पुस्तक प्राप्ति स्थानः—

१. श्री० ब्र० चांदमलजी चूडीवाल
देवरा की गली, नागौर (मारवाड़)

२. अहिंसा कार्यालय, जयपुर सिटी

मुद्रक—
श्री वीर प्रेस,
मनिहारों का रास्ता, जयपुर।

★ प्राक्कथन ★

जितने भी पूजा पाठ हैं उन सब में आम नारंगी आदि फलों और मालती गुलाब चमेली आदि फूलों के चढ़ाने का विधान है। प्राचीन जैनाचार्यों के बनाये हुए जितने ग्रंथ हैं उनमें भी इन सब के चढाने का विधान है तोभी कुछ लोगों ने उन आचार्यों के ज्ञान से भी अपने ज्ञान को अधिक समझ यह कल्पना की कि वृक्ष से पक्व अवस्था में टूट जाने पर भी आम्र आदि फलों में वनस्पतिकाय के जीव रहते हैं, फलतः इन द्रव्यों को पूजा में भगवान् के चढ़ाना छोड़ दिया। कुछ लोगों ने तो यहाँ तक अपने ज्ञान को दौड़ाया कि आम आदि फलों के रस में भी असंख्य जीवों की कल्पना कर उसको पकाकर खाने लगे और जो साधारण वनस्पति आलू मूली आदि हैं उनको भी उन्हीं के समान समझ सिझाकर खाने खिलाने का उपदेश करने लगे। उनमें जीव मानना और फिर पका कर खाना सम्यक्त्व और चारित्र दोनों को ही वाधक है। वह ज्ञान तो मिथ्याज्ञान इसलिए भी है कि सर्वज्ञ और पूर्वाचार्यों के ज्ञान से अपने ज्ञान को अधिक माना गया। ब्र० पं० भूरामलजी शास्त्री ने इसी संबंध में एक पुस्तक भी लिखकर अपने मंतव्य का प्रचार किया। पू० ब्र० पं० भूरामलजी शास्त्री ने अब

क्षुल्लक पद भी धारण करलिया है। ऐसा मालूम हुआ है परन्तु उनका यह विचार आगमानुमोदित न होने से मान्य नहीं हो सकता।

ब्र० भूरामलजी शास्त्री ने सचित्त विचार नामक एक पुस्तिका लिखकर प्रकाशित कराई है। उससे बहुत कुछ भ्रम फैल गया है, जिसका परिहार करना आवश्यक समझ नागौर निवासी श्री० ब्रह्मचारी सेठ चांदमलजी चूड़ीवाल ने यह प्रस्तुत पुस्तक लिखने का परिश्रम उठाया है। ब्रह्मचारी चूड़ीवालजी एक सतत स्वाध्याय-शील आगमज्ञाता धर्ममर्मज्ञ महानुभाव सप्तम प्रतिमा के धारी विद्वान् सद्गृहस्थ हैं। आपने इस पुस्तक में सचित्त अचित्त के विषय को बहुत ही योग्यता और विद्वत्ता से युक्ति प्रमाण पूर्वक स्पष्ट किया है। इस पुस्तक के पढ़े बाद इस संबंध में किसी प्रकार की शंका नहीं रहनी चाहिये। विद्वान् लोग इस पुस्तक को आद्योपांत ध्यान पूर्वक पढ़ेंगे और पक्षपात को छोड़ कर निस्पक्षता से विचार करेंगे तो जहांतक मैं समझता हूँ उन्हें कोई शंका नहीं रहेगी।

श्री० पूज्य ब्रह्मचारी चूड़ीवालजी ने जो केवल जन कल्याण मे रत हो इतना परिश्रम किया है उसके लिए आभार माने विना नहीं रहा जा सकता।

आप आर्षमार्ग मार्तंड मीमांसा आदि अनेक मार्मिक ग्रंथ और भी लिखरहे हैं जिनका भी यथासंभव शीघ्र ही प्रकाशन होगा। प्रसन्नता की बात है कि आपका सारा समय धर्म—साधन, स्वाध्याय

और साधु सेवा में ही व्यतीत होता है। आदर्श त्यागियों से देश और समाज का गौरव है।

मैं चाहता हूँ कि इस पुस्तक से भ्रान्त धारणाओं का उन्मूलन हो और लोग जिनागम पर अटूट श्रद्धान से विचलित न होते हुये उसी प्रकार आचरण करने में भी शिथिल न हों।

जिनागम सेवी—

इन्द्रलाल शास्त्री, जयपुर
संपादक—अहिंसा
भूतपूर्व संपादक—जैन गजट

जयपुर नगर
ता० १७-१०-१९५४

स्त्री जिनाभिषेकादि पर समाधान

श्री० पंडित शिवरामजी रांचीने "स्त्री प्रक्षाल आदि निषेध" नामक जो पुस्तक प्रकाशित की है उसकी उक्त पुस्तक में सैंकड़ों युक्तियों तथा प्रमाणों से मार्मिक मीमांसा की है। इस पुस्तक के पढ़े बाद निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने पर कोई शंका नहीं रहती और पंडित शिवरामजी द्वारा फैलाई हुई भ्रांत धारणायें दूर हो जाती हैं। यह पुस्तक पढ़ने ही योग्य है, प्रत्येक विचारक को पढ़ना चाहिये।

पुस्तक मिलने का पता—

ब्रह्मचारी लाडमल जैन

लालजी सांड का रास्ता, जयपुर सिटी

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

सचित्ताचित्त निर्णय

वर्द्धमानं जिनं नत्वा सम्यग्ज्ञानस्य हेतवे ।
किमचित्तं सचित्तं किं वक्ष्ये शास्त्रप्रमाणतः ॥
महावीर श्री वीर जिन वर्द्धमान अतिवीर ।
सन्मति सन्मति दीजिए हरो जगत की पीर ॥
निर्णय सचित अचित्तका आगमके अनुसार ।
लिखूं स्वपर हितके लिए समझ लेहु अवधार ॥

पूर्वाचार्यों ने सचित्त का लक्षण 'सह चित्तेन वर्त्तते' सचित्त ऐसा किया है। अर्थात्-जीवसहित पदार्थ को सचित्त माना है। सजीव पदार्थों के भक्षण करने का जैन आगम में सर्वथा निषेध है अतः आगमकी आज्ञा मानने वाला कोई भी जैनबन्धु सजीव पदार्थ का भक्षण नहीं करता। यदि कोई जैन कहला करभी करता है तो वास्तविक जैनत्व से रहित है, दयाधर्म से पराङ्मुख है। जो जानता हुआ भी सजीव पदार्थों का भक्षण करता है वह निर्दयी है वह वास्तव में जैन धर्म धारण करने तथा सुनने का भी अधिकारी नहीं है, क्योंकि प्रति समय सजीव रहनेवाले पदार्थ मद्य, मांस, मधु और पांच उदंबर फल हैं। मद्य, मांस, मधु में जिस प्रकार

निरंतर जीव रहते हैं उसी प्रकार वड फल, पीपल फल, गूलर, कठूम्बर और पाकर फल इन फलों में भी निरंतर त्रस जीव रहते हैं। त्रस जीवों के कलेवर की मांस संज्ञा है और इन सब पदार्थों में त्रस जीवों का कलेवर है। ये पांच उदंबरफल और मांस चाहे सूखे ही क्यों न हों, त्रस जीवों का कलेवर उनसे अलग नहीं होता किन्तु ये तत्स्वरूप ही हैं। इसलिए ऐसे निंद्य पदार्थों का भक्षण करने वाला मांसभक्षी ही समझा जाता है। भक्षण करना तो दूर, इनके स्पर्श करने में भी घोर हिंसा का पाप होता है।

मांस कच्चा हो, अग्निसे पकाया हो, अग्निमें पचता हुआ हो या धूप से अथवा काल पाकर सूख गया हो तो भी मांस में त्रस जीव असंख्य उसी जाति के उत्पन्न होते रहते हैं जिस जाति के प्राणी का वह मांस होता है। प्राणी के अंग का नाम ही मांस है। यही बात आचार्यों ने कही है:—

न विना प्राणविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्।
मांसं भजतस्तस्मात्प्रसरत्यनिवारिता हिंसा॥
आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोदानाम्॥
आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा मांसपेशीम्॥
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डंबहुजीवकोटीनाम्॥

इनका अर्थ ऊपर दिया जाचुका है। जिसके ऐसी निंदनीय वस्तुओं के भक्षण की अभिलाषा नहीं गई है उसको आचार्य

जैनधर्म की देशना तक का अधिकारी नहीं बतलाते हैं। अर्थात् इन आठ पदार्थों के त्यागी को ही जैनधर्म के उपदेश सुनने का अधिकार है। जैनधर्म को धारण करने के लिए पात्रता की आवश्यकता है जैसे सिंहनी के दूध के लिए सुवर्ण का पात्र ही चाहिये, अन्य पीतल तांबा लोह काच आदि के पात्रों में जिस प्रकार सिंहनी का दूध नहीं ठहरता उसी प्रकार इन आठ पदार्थों के सेवन करने वाले के हृदय में जैनधर्म का उपदेश नहीं ठहर सकता। सो ही श्री अमृतचंद्राचार्य अपने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ग्रंथ में कहते हैं:—

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनायाः भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः॥

इस श्लोक की हिन्दी टीका स्व० पं० टोडरमलजी महोदय लिखते हैं कि "महा:दुखदायक अरु सुगमता से जिसका पार न पाइयें ऐसा जो महापाप तिसके ठिकाने जो ये आठ वस्तु इनको भक्षण करने से महापाप उपजै है, जिस कारण से इनको सर्वथा छोड़कर निर्मल बुद्धि हुआ संता जिनधर्म के उपदेशका पात्र होय हैं, जैसे विना जड़के वृक्ष होय नांही, तैसे इनका त्याग किये विना श्रावक होय नाहीं तातैं इनका त्याग मूल है।"

ऐसा ही सागारधर्मामृत में पंडित स्व० आशाधरजी ने कहा है।

यावज्जीवमिति त्यक्त्वा महापापानि शुद्धधीः ।
जिनधर्मश्रुतेर्योग्यः स्यात्कृतोपनयो द्विजः ॥

भावार्थ—द्विज उसे कहते हैं जिसका दोबार जन्म हुआ हो अर्थात् जो जन्म से भी शुद्ध हो और पीछे संस्कारों से शुद्ध होगा या हो। जो जन्म और यज्ञोपवीत से संस्कार से शुद्ध होगया हो उसेही द्विज या द्विजन्मा कहा जाता है। ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य ही जन्मजात शुद्ध होते हैं और ये तीन वर्णवाले ही संस्कारों के अधिकारी होते हैं। जिसके जीवन पर्यन्त इन आठ पदार्थों का त्याग हो और जिसके यज्ञोपवीत संकार होगया हो ऐसा द्विज जिनधर्म के श्रवण का अधिकारी होता है। अर्थात् इन मांस मद्यादि आठ वस्तुओं के त्याग होने पर ही वह यज्ञोपवीत का अधिकारी है और तभी उसकी द्विज संज्ञा होती है। इस कहने का अन्तस्तत्त्व यह है कि इन आठ महा पापकारी पदार्थों के त्याग करने पर ही वह श्रावक होने का अधिकारी हो सकता है, पहले नहीं।

कोई यहां यह कहे कि शूद्रवर्ण को जैनधर्म के उपदेशका अधिकारी क्यों नहीं बतलाया तो उसका समाधान यह है कि वह भी उपस्कर आचरण और शारीरिक शुद्धि होने पर वैसा ही होसकता है परन्तु यहां यह प्रकरण न होने से उसपर कुछ नहीं लिखा जाता है। यह प्रकरण सचित्त अचित्त के निर्णय करने का है। यहां द्विज को लक्ष्य करके उपदेश है इसलिए पहले उसीकी

पात्रताका वर्णन किया गया है। यहां इतनाही प्रयोजन है कि जो जन्म से ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य भी हो परन्तु जबतक वह इन आठ पदार्थों का त्याग करके यज्ञोपवीत धारण न करले तब तक श्रावकाचारादि जैन धर्मके सुननेकाभी अधिकारी नहीं होसकता है।

इन पांच उदंबरोंको खानेवाले लोगों को आचार्य धीवर सेभी बुरा बतलाते हैं:—

ससंख्यजीवव्यपघातवृत्तिभिर्नधीवरैरस्ति समं समानता।
अनंतजीवव्यपरोपकारणामुदंबराहारविलोलचेतसाम् ॥

भावार्थ—धीवर लोग तो नदी तालाब आदिमें जाल डाल कर संख्यात मछली आदि जानवरों को ही मारते हैं परन्तु जो उदंबरों को खाते हैं वे तो अनंतजीवों के हिंसक हैं। इसलिये इन पांच उदंबर फलों को खाने वालों को धीवरों से भी अधिक समझने चाहिये। अत एव आचार्योंने सबसे पहले इन पांच उदंबर फलोंको सुखाकर भी खाने का निषेध किया है। पं० आशाधरजी ने अपने सागारधर्मामृत ग्रंथ में लिखा है।

पिप्पलोदंबरप्लक्षवटफल्गुफलान्यदन्।
हंत्यार्द्राणि त्रसान् शुष्काण्यपि स्वं रागयोगतः ॥

अर्थात्—इन पांचों वृक्षों के गीले फल खानेवाला त्रसजीवों की हिंसा करता है और जो इन्हें सुखाकर खाता है उसे इन फलोंमें अतिराग होने से भावहिंसाभी होती है। सुखानेमें द्रव्यहिंसाभी होती है। सूखे भी त्रसजीवोंका कलेवरही तो है।

इन फलोंको सुखाकर खानेका निषेध श्रीपुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में भी किया है—

यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि ।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात् ॥

इस श्लोक की स्व० पं० टोडरमलजी ने इस प्रकार हिन्दी टीका की है—बहुरि जे उदंबर काल पाय त्रस जीव रहित सूखे होय तो भी तिनके खानेवालेको हिंसा होय है।"कैसी हिंसा होय है—विशिष्ट-रागादिरूपा कहिये विशेष रागभाव है स्वरूप जिसका। जो रागभाव न होता तो ऐसी निंद्य वस्तु काहेको अंगीकार करता, तिसतैं जहां रागभाव आया सो ही हिंसा। जैसे काहूनैं हरित वस्तु को न खाई परन्तु उस वस्तु को रागभाव करि वाकूं सुखाय करि खाइये। जो राग न होता तो काहे को यह प्रयास करे? यहां प्रश्न जो सूखी वस्तु में दोष है तो अन्न काहेकूं खाइये जिसका उत्तर—अन्न निंद्य नहीं है बहुरि इसमें रागभाव बिना वह स्वयं सूखे है बहुरि इसका भक्षणभी साधारण उदर भरण निमित्त है कछु विशेष राग होनेका कारण नांही। यहां तो विशेषरूप राग भावनिका होना सोही हिंसा बताइये है।"

इस कथनसे जो हरी वस्तु न खाकर उसको सुखा कर खाते हैं उसके खाने में रागभावोंमें विशेपता रहती है। प्रथम तो उसको संग्रह करके रखना पडता है फिर उसमें उलन फुलन के आजानेसे उसको बार २ धूप दिखाना पडता है। लटें वगैरह पड़ जाने से

वार बार उसको शोधन करना पड़ता है, यह सब विशेष रागभाव काही कारण है। और विशेष रागभाव के कारण हरी खाने के वजाय सूखी खाने में विशेष पापबंध होता है। हरी वस्तु तो मोसम की चीज है इसलिए मौसम में ही मिलती है। इसलिए जिस मौसमकी जो चीज हो उसे उसी मौसममें खानेसे खानेवालेके विशेष राग नहीं होता किन्तु उस हरी वस्तु को सुखाकर खाने में अन्य मौसममेंभी खाने में खानेवालेके विशेष राग होता है इसीलिए तो वह सूखे शाकादिका संग्रह करता है। मौसम की चीज को वे मौसम में खाने की इच्छा ही तो विशेषराग का कारण है। अतः युक्ति और आगम से यह स्पष्ट हो जाता है कि हरी वस्तु के खानेके बजाय उसे सुखाकर खानेमें अधिक राग रहता है और वह पापबंध का कारण है इसलिए जो अप्रतिष्ठित प्रत्येक बनस्पति ऋतु के अनुसार मिलती हो उसके हरी के खाने में दोष नहीं है। इसके अतिरिक्त एक बात और भी ध्यान में रखने योग्य है कि पर्वादि दिनोंमें बहुतसेलोग हरी तो नहीं खाते परन्तु मोठ चना आदिक सूखे धानों को भिगोकर उसे खाते हैं जो हरी का भी बाप बनजाता है। जिस अनंतकाय के खाने का आगम निषेध करता है उसी धान्य को अनंतकाय बनाकर हरी न खोने वाला खावे, कितना अनर्थ है। जब इन धान्यों को भिगोया जाता है तो इनमें अंकुरे पैदा हो जाते हैं, वे जल के संयोग से उग जाते हैं और अनंतकाय होजाते हैं। अर्थात् उनको अनंतकाय वनाकर खाया जाता है, वलिहारी हैं इस विडंबना की जो गुड़ न खाकर गुलगुले

खाते हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति करने वालों को चाहिये कि वे दाल रोटी खाकर ही अपना जीवन यापन करलें तो ठीक है, जिह्वा के स्वाद के लिए आगम विरुद्ध प्रवृत्ति करना ठीक नहीं। एक तरह तो हरी वस्तुओं को त्याग की विडंबना करना और दूसरी ओर चना मोठ आदि को अनंतकाय बनाकर खा जाना सरासर अन्याय है।

पुरुपार्थ सिद्ध्युपाय में इसी विषय में कहा है कि:—

धर्ममहिंसारूपं संशृण्वन्तोऽपि ये परित्यक्तुम्।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां तेऽपि मुंचन्तु॥

भावार्थ—धर्म, अहिंसा रूप ही है ऐसा सुनकर भी जानकर भी जो स्थावर हिंसा छोड़ने में असमर्थ हैं वे त्रसहिंसा को तो अवश्यमेव छोड़ें हीं, अर्थात् गृहस्थ अवस्था में स्थावरहिंसा तो छूट नहीं सकती परन्तु त्रसहिंसा से तो भली प्रकार सुगमता से बचा जा सकता है। श्रावक धर्म, प्रवृत्ति किये बिना सधता नहीं प्रवृत्ति में स्थावरहिंसा हो जाती है, परन्तु त्रसहिंसा के बिना अच्छी तरह प्रवृत्ति हो जाती है। त्रसहिंसा का त्यागी ही श्रावक हो सकता है, श्रावक के योग्य विषयों के सेवन में एकेंद्रिय जीवों का घात होता है जिससे तज्जनित पाप होता है, परन्तु अन्य जीवों को बचाना उसका प्रथम कर्त्तव्य है। अयोग्य विषयों के सेवन में स्थावर जीवों की हिंसा होती हो तो वह भी त्याज्य है

अर्थात् श्रावक को अयोग्य विषयों का सेवन नहीं करना चाहिये। जो विषय श्रावकके लिए अनिवार्य सेवनीय हों वे ही सेवने चाहिये और उन अनिवार्य विषयों के सेवन में जो स्थावर हिंसा हो वह तो अनिवार्य है बाकी स्थावर जीवों का घात करना भी घोर पाप है, सो ही पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में कहा है—

स्तोकैकेन्द्रियघाताद्गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम् ।
शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम् ॥

ऐसा ही श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है —

अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि ।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥

अर्थात्—जिनके खाने से फल तो शाक-भाजी मिलजाने या पेट भरनेमात्रका हो और अधिक हिंसा से पाप बहुत लग जाता हो ऐसी चीजें न खाई जावें जैसे मूली, गीली अदरख, गाजर सकरकन्दी, आलू, मक्खन, नीमके फूल, केतकी के फूल आदि। ये पदार्थ अनुपसेव्य हैं। धार्मिक पुरुषों के सेवन करने योग्य इसलिए नहीं हैं कि इनमें अनन्त जीवों का घात होता है। धार्मिक पुरुष, ऐसी चीजों को जिनमें थोड़ेसे फल के लिए अनन्त जीवों का घात होजाता है आगम की आज्ञा से ही किसी प्रकार का तर्क न कर छोड़ देते हैं। छहढाला में स्व. पंडित दौलतरामजी ने भी ऐसा ही कहा है—"त्रस हिंसा का त्याग, वृथा थावर न संहारै"।

यहां स्थावर का अर्थ अनन्तकायिक वनस्पति है। जब हमारा काम अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिसे ही चल जाय तो सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति जो अनन्त काय है उसका घात क्यों करे? कन्दमूलादि वनस्पति अपने आप कभी भी अप्रतिष्ठित प्रत्येक नहीं होती। इनके छिन्न भिन्न करने पर भी इनमें निर्जीवता नहीं आती। कन्द मूलादिक के प्रत्येक अंश में अनन्तजीव सप्रतिष्ठित जीवों की सत्ता पाई जाती है।

जब सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति रूप हो जाय तभी सेवन करने योग्य है। वृक्ष पर भी जो अपनी सप्रतिष्ठित अवस्था को बदलकर अप्रतिष्ठित होजाय अथवा सप्रतिष्ठित प्रत्येक होने पर भी वृक्ष से अलग होने पर अप्रतिष्ठित अवस्था को प्राप्त हो जाय वही वनस्पति जैन बन्धुओंके खाने योग्य है। जैनधर्म का धारी अथवा जैन धर्मोक्त अहिंसातत्त्वको समझने वाला होगा वह ऐसी वनस्पतियों का सेवन कभी नहीं कर सकता जिनके सेवन से अनन्त जीवों का घात होजाता है।

यह स्मरण रखने की बात है कि पांच स्थावरकायिक जीवों में वनस्पतिकायिक के अलावा स्थावर कायिक अनन्तकायिक नहीं होते हैं परन्तु भोगोपभोग में तो सभी स्थावरकायिक आते हैं इसलिए बिना किसी उचित प्रयोजन के उनका भी घात नहीं करना चाहिये, यही जैनत्वका चिह्न है। इन सबका स्वरूप समझे बिना पाप से निवृत्ति नहीं हो सकती इसलिए शास्त्राधार से इस विषयके जानने की प्रत्येक जैन को आवश्यकता है। सो ही कहा है :—

पृथिवी पृथिवीकायः पृथिवीकायिकस्तथा ।
पृथ्वीजीव इति ख्याता पृथिवीभेदाश्चतुर्विधा ॥
मार्गोपमर्दिता धूलिः पृथिवी प्रोच्यते बुधैः ।
निर्जीव इष्टकादिश्च पृथ्वीकायो मतः श्रुतौ ॥
सजीवा पृथिवी सर्वा पृथिवीकायिको भवेत् ।
विग्रहाध्वानमापन्नोऽङ्गी पृथ्वीजीव उच्यते ॥
आपस्तथैवाप्शरीरं वाप्कायिकोऽब्जीव इत्यपि ।
भेदाश्चत्वार आम्नाता जिनैरप्कायिकात्मजाम् ॥
जलमांदोलितं लोकैः सकर्दमं तथाप् भवेत् ।
उष्णोदकं च निर्जीवमन्यद्वाप्काय उच्यते ॥
जलकाययुतः प्राणी चाप्कायिको निगद्यते ।
अप्कायं नेतुमागच्छन् बुधैर्जीवांगतो भवेत् ॥
पूर्वं हि तेजस्तेजःकायस्तेजःकायिकस्तथा ।
तेजोजीव इमे भेदाश्चत्वारस्तेजसां मताः ॥
भस्मनाच्छादितं तेजोमात्रं तेजः प्ररूप्यते ।
जीवतेजश्च भस्मादि तेजःकाय इहोच्यते ॥
तेजःकायमयोदेही तेजःकायिक इष्यते ।
तेजोऽगार्थं व्रजन् मार्गे तेजोजीवो मतो बुधैः ॥
वायुश्च वायुकायोऽथ तृतीयो वायुकायिकः ।
वायुजीव इमे भेदाश्चत्वारो वायुदेहिनाम् ॥
रजःपुञ्जमयो वायुर्भ्रमन्कायो जिनैःस्मृतः ।

जीवातीतो मरुत्कायो वायुकाय इतीरितः ॥
वायुप्राणमयः प्राणी प्रोदितो वायुकायिकः ।
वातांगार्थं व्रजन्मार्गेऽगी वायुजीव उच्यते ॥
आदौ वनस्पतिश्चाथ वनस्पतिवपुस्ततः ।
वनस्पत्यादिकः कायिको वनस्पतिजीवभाक् ॥
वनस्पतेरमी भेदाश्चत्वारः कीर्त्तिता जिनैः ।
छिन्नं भिन्नं तृणादिश्च वनस्पतिरिहोच्यते ॥
जीवमुक्ततृणादिश्च वनस्पतिवपुः स्मृतः ।
वनस्पत्यंगयुक्तोऽगी स्याद्वनस्पतिकायिकः ॥
प्राक्शरीरस्य त्यागेन वनस्पत्यंगसिद्धये ।
प्राणान्तेऽगी गतौ गच्छन् स्याद्वनस्पतिजीवभाक् ॥
एतेषां प्राकृतो भेदः किंचित् प्राणाश्रितो मतः ।
पृथ्व्यादीनां द्वितीयस्तु केवलं जीवदूरगः ॥
जीवयुक्तस्तृतीयश्च चतुर्थो भेद ईरितः ।
त्यक्तप्राग्वपुषा भाविपृथिव्यंगाय गच्छतः ॥
एतान् भेदान् बुधैर्ज्ञात्वा सचेतनानचेतनान् ।
पृथिव्यादेश्च रक्षायै कर्त्तव्यं यत्नमंजसा ॥

अर्थात्— विज्ञ श्रावकों को पंच स्थावरों के भेदों को अच्छी तरह जान कर यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिए, जिससे जीवों की रक्षा हो सके ।

प्रत्येक स्थावरके आचार्यों ने चार चार भेद किये हैं। उनमें आदि के दो दो भेद निर्जीव अचेतन अर्थात् अचित्त हैं। बाकी दो भेद सजीव चेतना युक्त अर्थात् सचित्त हैं। आदि के दो दो भेदों को निर्जीव होने से कुछ आचार्यों ने पहले भेद को दूसरे ही भेद में सम्मिलित करके पंच स्थावरों के तीन २ भेद माने हैं अथवा पहले भेद को सामान्य मानकर आगेके तीनों भेदोंमें गर्भित कर तीन २ भेद ही मान लिये हैं। इसलिये पृथ्वी को सामान्य कर देनेमें कोई बाधा नहीं आती और तीन २ भेद भी हो सकते हैं। जैसे पृथ्वी काय, पृथ्वी कायिक, पृथ्वी जीव। इसी प्रकार अन्य स्थावरोंमें भी घटित कर लेना चाहिये।

यहाँ यह शंका होती है कि ऊपर जो स्थावरों के चार चार भेद बतलाये हैं उनमें पहले भेद को किंचित् प्राणाश्रित बतलाया गया परन्तु यहां पहले भेद को दूसरे भेद के समान निर्जीव बतलाया गया है। इसलिए पहले भेद को किंचित् चेतनायुक्त मानना उचित है जैसा कि सचित्त विचार नामक पुस्तिकामें "किंचित् प्राणाश्रित" का अर्थ पहले भेदमें सचित्तता का सद्भाव बना रहना किया गया है, इसलिए पहले भेद को निर्जीव मानना अनुचित प्रतीत होता है।

इस शंका के समाधान में यह कहना है कि–'सचित्त विचार' पुस्तिका वाणी भूषण पं० भूरामलजी शास्त्री ने लिखी है। वे चाहे पदवी और उपाधिकारी विद्वान् ही हैं तो भी उनके द्वारा किंचित्

पुष्टि सुनी तो मुझे बड़ा दुःख हुआ। जब उनकी उत्सूत्र बातों में मुनिजन तक भोलेपन से फंसने लगे तो उन बातों के विषय में प्रमाण युक्ति पूर्वक लिखने का विचार हुआ जिसी का फल स्वरूप यह पुस्तिका है।

श्री भूरामलजी शास्त्री सूतक पातक को भी बेकार समझते हैं। उनका कहना है कि शूद्र भी मुनियों को आहारदान कर सकता है। यज्ञोपवीत के विषय में भी वे मौनस्थ हैं। द्विजाति के लिए वे यज्ञोपवीत को अनावश्यक समझते हैं। सप्तम प्रतिमाधारी ब्रह्मचारी के लिए भगवान् की द्रव्य पूजाको अनावश्यक कहते हैं। ऐसी उनकी कई आगम विरुद्ध बातें हैं जिनसे मतभेद होना स्वाभाविक है।

शंकाकार की जो यह शंका थी कि पृथिव्यादि पंचस्थावरों का पहिला भेद किंचित् चेतना सहित होना चाहिये। मैंने जो उस पहिले भेद को निर्जीव चेतना रहित बतलाया था उसको शंकाकार ने अनुचित समझा था परन्तु आगम ऐसा ही बतला रहा है। "एषां पृथ्व्यादीनामार्षे चातुर्विध्यमुक्तम्, प्रत्येकं तत्कथमिति चेदुच्यते। पृथ्वी, पृथ्वीकाय, पृथ्वीकायिक, पृथ्वीजीव इत्यादि। तत्र अचेतना वैश्रसिकपरिणामनिवृत्ता काठिन्यगुणात्मिका पृथ्वी अचेतनत्वादसत्यपि पृथ्वीकायनामकर्मोदये प्रथनक्रियोपलक्षितै-वेयम्। अथवा सामान्यम् उत्तरत्रयेऽपिसद्भावात् कायशरीरं पृथ्वीकायिक जीवपरित्यक्तः पृथ्वीकायः मृतमनुष्यादिकायवत् पृथ्वीकाय यस्यास्तीति पृथ्वीकायिकः तत्कायसम्बन्धवशीकृत

आत्मा समवाप्तपृथ्वीकायनामकर्मोदयः कार्माणकाययोगस्थो यो न तावत् पृथ्वीकायत्वेन गृह्णाति स पृथिवीजीवः अर्थात् इन पृथ्वी आदि पांचों स्थावरों के ऋषियों रचित आर्ष शास्त्रों में चार चार भेद कहे गये हैं। कैसे कहे गये हैं ऐसी शंका होने पर कहा जाता है कि पृथ्वी, पृथ्वीकाय, पृथ्वीकायिक, पृथ्वीजीव ऐसा सब स्थावरों में लगा लेना चाहिये। अप्, अप्काय, अप्कायिक, अप्जीव। तेज तेजःकाय, तेजकायिक, तेजोजीव। वायु, वायुकाय वायुकायिक, वायुजीव। वनस्पति, वनस्पतिकाय, वनस्पतिकायिक, वनस्पति जीव। वहाँ अचेतन स्वभाव सिद्ध परिणाम से रचित अपने (आत्मिक) कठिनता गुण से पृथ्वी है। जड़पना से पृथ्वीकाय नामा नाम कर्म की प्रकृति के उदय न होने पर भी प्रथन वा फैलाव क्रिया आदि से युक्त उपलक्षित पृथ्वी है। अथवा पृथ्वी सामान्य शब्द भी है। क्योंकि अगले भेदों में भी पृथ्वी विद्यमान है। अर्थात् पृथ्वीकाय, पृथ्वीकायिक, पृथ्वीजीव इस प्रकार तीनों भेदों में पृथ्वी शब्द विवृत होता है। अतः पहिला भेद पृथ्वी को कथंचित् सामान्य भी कह सकते हैं। किन्तु पहिले भेद के विषय में आचार्य ऊपर अच्छी तरह स्पष्ट कर चुके हैं कि वहाँ अचेतन स्वभावसिद्ध परिणाम से रचित अपने कठिनता गुण से पृथ्वी है, जड़पना से पृथ्वीकाय नामकर्म की प्रकृति के उदय न होने पर प्रथन वा फैलाव क्रिया आदि से युक्त पृथ्वी है। इस कथन से पहिला भेद पांचों ही स्थावरों का निर्जीव अचेतन जड सिद्ध हो चुका है। इसी कारण हम ऊपर बतला चुके हैं कि अन्य कतिपय

प्राणाश्रित का अर्थ जो चेतनायुक्त किया गया है, वह सर्वथा असंगत और आगम विरुद्ध है। उन्होंने तो यहां तक लिखा है कि—"संयमधारी दयालु लोगोंको नीवू, नारंगी, चीकू, आम किसी भी प्रकार की वनस्पति को अग्नि पर पकाये विना नहीं खाना चाहिए, क्योंकि उनके प्रत्येक कण कण में वनस्पति कायिक जीव रहते हैं।" इस असंगत और आगम विरुद्ध अपनी कल्पित वातको उन्होंने जिनागम की आज्ञा वतला डाला है। आपने अपनी उस पुस्तिका में और भी अनेक ऊटपटांग और आगम विरुद्ध वातें लिखकर वड़ा अनर्थ किया है जिन सवका इस पुस्तक में सप्रमाण और सयुक्तिक खंडन किया जायगा। मैं यह वात भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि मेरा जो सचित्ताचित्त पर लिखने का विचार हुआ वह उक्त भूरामलजी शास्त्री की अनर्गल, आगमविरुद्ध वातोंको देख कर ही हुआ है। आगम की मर्यादा को अक्षुण्ण वनी रखनेके विचारसे ही मैंने यह प्रयास किया है और पद पद पर आगम की आज्ञा का ध्यान रक्खा है। सचित्त विचार जैसी उत्सूत्र पुस्तिकाओं को पढ़कर लोग अन्यथा प्रवृत्ति न करें, यही केवल मेरे प्रयास का फल होना चाहिये। आजकल लोग आगम पढ़ते नहीं, शास्त्र में प्रवेश भी नहीं करते। वहुत से विद्वान् भी ख्याति लाभ पूजादि के कारण आगम वाक्यों का उत्सूत्र अर्थकर अनभिज्ञ भोले जनप्रवाही लोगों में पुजना चाहते हैं। वे पारमार्थिक हानि को लौकिक हानिके आगे कोई महत्व नहीं देते। उनके सामने यही लोक है—परलोक नामकी कोई वस्तु नहीं।

आजकल जो लोग आगम विषयों पर मन्थन और गवेषणा किये विना ही ऐसी पुस्तिकाएँ लिख देते हैं, उनके प्रभाव में मुनि-जन तक आ जाते हैं। फलतः श्री १०८ आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज के संघस्थ श्री १०८ श्री स्व० आदिसागरजी महाराज तथा श्री १०५ श्री आर्यिका वीरमतीजी तक पर भी पड़ा कि वे भी आम नारंगी आदि का रस पकवाने के बाद ही लेने लग गये। पं. भूरा-मलजी कई वर्षों तक उक्त संघमें रहे परन्तु जब उनकी इस प्रकार कृतियां होने लगी तो उनको अलग हो जाना पड़ा। उक्त पंडितजी सूतक पातक को भी बेकार चीज समझते हैं। वे कहते हैं कि शूद्र भी मुनियों को आहार दे सकता है। यज्ञोपवीत द्विजोंके लिए आवश्यक है, इसमें भी वे मौनस्थ हैं। ब्रह्मचारियों को भगवान की द्रव्य पूजा करना भी वे आवश्यक नहीं मानते, इत्यादि अनेक बातों में बहुत परिचय होते हुए भी उनसे मतभेद है। बाकी उनसे कोई वैयक्तिक द्वेष नहीं। मैंने आगम की मर्यादा का पूरा पूरा ध्यान रखकर ही इसमें लिखा है। मुझे पंडित भूरामलजी शास्त्री की उपाधियों के देखते हुए लोग विद्वान् नहीं समझेंगे। परन्तु चाहे न समझें। मैं अपने को विद्वान् मानता भी नहीं परन्तु इस विषय में जो मनन किया है वह प्रमाणों और युक्तियों के आधार पर ही किया है।

पंडित भूरामलजी शास्त्री श्री १०८ श्री वीरसागरजी मारा‌ज के संघमें तीन वर्ष तक रहे। मैं उनको सदैव श्रद्धा दृष्टि से देखता रहा। परन्तु जब उनके मुखसे अनेक आगम विरुद्ध बातों की भी

पुष्टि सुनी तो मुझे बड़ा दुःख हुआ। जब उनकी उत्सूत्र बातों में मुनिजन तक भोलेपन से फंसने लगे तो उन बातों के विषय में प्रमाण युक्ति पूर्वक लिखने का विचार हुआ जिसी का फल स्वरूप यह पुस्तिका है।

श्री भूरामलजी शास्त्री सूतक पातक को भी बेकार समझते हैं। उनका कहना है कि शूद्र भी मुनियों को आहारदान कर सकता है। यज्ञोपवीत के विषय में भी वे मौनस्थ हैं। द्विजाति के लिए वे यज्ञोपवीत को अनावश्यक समझते हैं। सप्तम प्रतिमाधारी ब्रह्मचारी के लिए भगवान् की द्रव्य पूजाको अनावश्यक कहते हैं। ऐसी उनकी कई आगम विरुद्ध बातें हैं जिनसे मतभेद होना स्वाभाविक है।

शंकाकार की जो यह शंका थी कि पृथिव्यादि पंचस्थावरों का पहिला भेद किंचित् चेतना सहित होना चाहिये। मैंने जो उस पहिले भेद को निर्जीव चेतना रहित बतलाया था उसको शंकाकार ने अनुचित समझा था परन्तु आगम ऐसा ही बतला रहा है। "एषां पृथ्व्यादीनामार्षे चातुर्विध्यमुक्तम्, प्रत्येकं तत्कथमिति चेदुच्यते। पृथ्वी, पृथ्वीकाय, पृथ्वीकायिक, पृथ्वीजीव इत्यादि। तत्र अचेतना वैश्रसिकपरिणामनिवृत्ता काठिन्यगुणात्मिका पृथ्वी अचेतनत्वादसत्यपि पृथ्वीकायनामकर्मोदये प्रथनक्रियोपलक्षितै-वेयम्। अथवा सामान्यम् उत्तरत्रयेऽपिसद्भावात् कायशरीरं पृथ्वीकायिक जीवपरित्यक्तः पृथ्वीकायः मृतमनुष्यादिकायवत् पृथ्वीकाय यस्यास्तीति पृथ्वीकायिकः तत्कायसम्बन्धवशीकृत

आत्मा समवाप्तपृथ्वीकायनामकर्मोदयः कार्माणकाययोगस्थो यो न तावत् पृथ्वीकायत्वेन गृह्णाति स पृथिवीजीवः अर्थात् इन पृथ्वी आदि पांचों स्थावरों के ऋषियों रचित आर्ष शास्त्रों में चार चार भेद कहे गये हैं। कैसे कहे गये हैं ऐसी शंका होने पर कहा जाता है कि पृथ्वी, पृथ्वीकाय, पृथ्वीकायिक, पृथ्वीजीव ऐसा सब स्थावरों में लगा लेना चाहिये। अप्, अप्काय, अप्कायिक, अप्-जीव। तेज तेजःकाय, तेजकायिक, तेजोजीव। वायु, वायुकाय वायुःकायिक, वायुजीव। वनस्पति, वनस्पतिकाय, वनस्पतिकायिक, वनस्पति जीव। वहाँ अचेतन स्वभाव सिद्ध परिणाम से रचित अपने (आत्मिक) कठिनता गुण से पृथ्वी है। जड़पना से पृथ्वीकाय नामा नाम कर्म की प्रकृति के उदय न होने पर भी प्रथन वा फैलाव क्रिया आदि से युक्त उपलक्षित पृथ्वी है। अथवा पृथ्वी सामान्य शब्द भी है। क्योंकि अगले भेदों में भी पृथ्वी विद्यमान है। अर्थात् पृथ्वीकाय, पृथ्वीकायिक, पृथ्वीजीव इस प्रकार तीनों भेदों में पृथ्वी शब्द विवृत होता है। अतः पहिला भेद पृथ्वी को कथंचित् सामान्य भी कह सकते हैं। किन्तु पहिले भेद के विषय में आचार्य ऊपर अच्छी तरह स्पष्ट कर चुके हैं कि वहाँ अचेतन स्वभावसिद्ध परिणाम से रचित अपने कठिनता गुण से पृथ्वी है, जड़पना से पृथ्वीकाय नामकर्म की प्रकृति के उदय न होने पर प्रथन वा फैलाव क्रिया आदि से युक्त पृथ्वी है। इस कथन से पहिला भेद पांचों ही स्थावरों का निर्जीव अचेतन जड सिद्ध हो चुका है। इसी कारण हम ऊपर बतला चुके हैं कि अन्य कतिपय

आचार्यों ने इन पाचों स्थावरों का पहिला भेद जड़ होने से दूसरे भेद जड़में समावेश करके पाचों स्थावरों के तीन तीन भेद ही गिनाये हैं। अर्थात् पृथ्वीकाय, पृथ्वीकायिक पृथ्वीजीवः, अपूकाय अपूकायिक, अपूजीव, तेजःकाय तेजःकायिक, तेजोजीव, वायुकाय; वायुकायिक, वायुजीव, वनस्पतिकाय, वनस्पतिकायिक वनस्पतिजीव, इस प्रकार तीन तीन भेद किये हैं। पंच स्थावरों का दूसरा भेद भी जड़ है निर्जीव है।

पृथ्वीकाय वा शरीर जिसमेंसे पृथ्वीकायिक जीव मर कर निकल चुका है सो पृथ्वीकाय है। अर्थात् मरे हुये मनुष्यादिक के शरीर सदृश पृथ्वीकाय हैं। जैसे मरे हुये मनुष्यादिक के शरीर में फिर मनुष्यादि उत्पन्न नहीं होते उसी प्रकार पंचस्थावरों के शरीर का जीव निकल जाने पर फिर उस शरीर में वह शक्ति नहीं रहती जो फिर वह शरीर कायिक वनजाय। अतः उस शरीर का नाम काय है। जब तक पुनःकायिक होने की शक्ति रहती हैं तव तक उस शरीर का नाम काय नहीं कहा जा सकता है किन्तु जिन जिन आचार्यों ने स्थावरों के तीन तीन भेद किये हैं उन उन आचार्यों ने योनिभूत जो पहिला भेद है उसको भी काय में सम्मिलित कर लिया है परन्तु जिन्होंने पंचस्थावरों के चार चार भेद किये हैं उन्होंने जिस शरीर में जीव उत्पन्न होने की शक्ति जब तक विद्यमान है तव तक उस शरीर को काय न कहकर सामान्य रूप जो पहिला भेद है उसको अलग गिनाया है। दोनों दृष्टिकोण भिन्न भिन्न हैं। एक दृष्टिकोण है जब तक पंच स्थावरों

का शरीर निर्जीव होनेपर भी उसमें पुनः कायिक होने को शक्ति रहती है तब तक उसका सामान्य भेद अलग गिना दिया है। दूसरे का दृष्टिकोण है जब तक पंच स्थावरों का शरीर निर्जीव है तब तक उसको काय में ही गर्भित करलिया है। जब उसमें जीव उत्पन्न होजावेगा तब उसको कायिक समझ लिया जायेगा। इस अपेक्षा पहिला भेद अलग नहीं किया। पृथ्वीकाय जिस जीव के है ऐसा जीव पृथ्वीकायिक है यह तीसरा भेद सजीव है। चोथा भेद जिस जीव के पृथ्वीकायिक नाम कर्म का उदय है परन्तु अभीतक पृथ्वी को काय स्वरूप से ग्रहण नहीं किया है, ग्रहण करने वाला है।

जब तक पृथ्वी को काय रूप नहीं करेगा तब तक कार्माण योग में तिष्ठता जीव पृथ्वी जीव है अर्थात् विग्रहगति में तिष्ठता जब तक पृथ्वी को काय रूप ग्रहण नहीं करता है तब तक उस जीव को पृथ्वी जीव कहा जायगा। इसी प्रकार बाकी के चारों स्थावरों में घटित करलेना चाहिये। सर्वार्थसिद्धि के उपयु क्त प्रमाण से शंकाकार की शंका का समाधान अच्छी तरह हो ही जाता है। उपयु क्त कथन से भलीभांति सिद्ध हो चुका कि पहिला भेद निर्जीव है किंचित् कथंचित् की उसमें गुंजायश ही नहीं है। ब्र० भूरामलजी साहब ने शास्त्री होकर भी इस तरफ क्यों आंख मीचली, क्या सर्वार्थसिद्धि आपने नहीं देखी ? यदि नहीं देखी है तो शास्त्री कैसे ? क्योंकि सर्वार्थसिद्धि को तो शास्त्री परीक्षा देने के पहिले ही विशारद द्वितीय खंडमें पढ़ना पड़ता है। यदि देखी है तो

इस कथनको क्यों लोप कर गये ? हमतो इसका कारण यही समझते हैं कि आपने अपनी महत्ता प्रकट करने के लिये ही आगम वाक्यों को ठुकराया है और अपनी नई वेजा सूझ प्रकट की है। इस पर ब्रह्मचारीजी यह कहें कि पंच स्थावरों के चार चार भेदों में से पहिले भेद को आचार्यों ने "किंचित्प्राणाश्रितोमतः" ऐसा माना है इसका हेतु क्या है। उसमें किंचित्प्राण विद्यमान है तब ही तो ऐसा माना है, यदि किंचित् भी प्राणों की वहां सम्भावना है तो सर्वथा उसको निर्जीव भी नहीं कह सकते। यदि उसमें किंचित् भी प्राणों की संभावना नहीं होती तो आचार्यों ने किंचित्प्राणाश्रितोमतः" ऐसा क्यों कहा। इस शंका का समाधान इस प्रकार है; प्रथम तो आपकी भ्रान्तिपूर्ण यह धारणा है किजिन २ आचार्यों ने पहिले भेद में "किंचित्प्राणाश्रितोमतः" ऐसा माना है उनके मत से पहिला भेद सर्वथा निर्जीव नहीं है। दूसरी वात यह है कि आपकी दृष्टि में आचार्यों में परस्पर में मत भेद है, ऐसा ज्ञान हो रहा है। अर्थात् कतिपय आचार्य पहिले भेद को सजीव मानते हैं तो कतिपय आचार्य निर्जीव मानते हैं। परन्तु न तो आचार्यों में इस विषय में भेद है और न कोई भी आचार्यों ने पहिले भेद को सजीव ही माना है। यदि सजीव मानते तो किंचित् प्राणाश्रितोमतः ऐसा न कहकर किंचित्-च्चेतनाश्रितोमतः ऐसा कहते। इसलिये समझना होगा कि "किंचित्-प्राणाश्रित" माना है। फिर भी यहाँ शंका हो सकती है कि विना प्राणी के प्राण कैसा ? इस शंका का समाधान ऐसा है कि यहाँ अपेक्षा दो तरह की है। एक भूतनैगमनय की अपेक्षा, दूसरी

भावी नैगमनय की अपेक्षा। अर्थात् पहिले उस काय में प्राणधारी जीव रह चुका है इस कारण इस भूतनैगमनय की अपेक्षा से वहाँ शरीर कथंचित् किंचित् प्राणसंगत संभव है। अथवा उस काय में प्राणधारी के उत्पन्न होने की शक्ति विद्यमान है, उस शक्ति को सामने रखकर भावी नैगमनय की अपेक्षा से कंथचित् किंचित् प्राणाश्रित कहा जा सकता है। इसमें किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आती। क्योंकि वह काय पहिले प्राणी के आश्रित थी तथा भविष्य में भी वह काय प्राणी के आश्रित होने वाली है अतएव इस अपेक्षा उस काय को किंचित् प्राण मानकर "किंचित् प्राणाश्रितोमतः" ऐसा कह दिया है। वास्तव में पहिला भेद निर्जीव ही है ऐसा ही राजवार्त्तिककार अकलंक देवने माना है तथा ऐसा ही मूलाचार की टीका में घोषित किया गया है।

प्राणाश्रित का अर्थ यह भी हो सकता है कि पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के आश्रित ही प्राण रहते हैं। पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाले मकान, मन्दिर, मठ, धर्मशाला विद्यालय, आदि में एवं पृथ्वी पर ही प्राण रह सकते हैं। जल, अग्नि, वायु और वनस्पति (अन्न) आदि के बिना भी नहीं रह सकते। अनेक स्थलों में "अन्नं वै प्राणा" "आयुर्वैघृतम्" "औपधमेव प्राणाः" इत्यादि वाक्य देखे जाते हैं। अर्थात् अन्न ही प्राण हैं, घृत ही आयु है, औपध ही प्राण हैं। इस प्रकार के वाक्यों से कारण में कार्यको माना गया है। अन्न स्वयं प्राणरूप नहीं, किन्तु प्राणवर्धक अथवा प्राणरक्षक होने से प्राणरूप कहा जाता है। ऐसे ही घृत, औषध आदि के विषय में जानना चाहिये। जल

तेज वायु आदि के विना भी प्राण नहीं रह सकते ।

पृथ्वी, तेज और वायु इनके उपयोग में अधिक विचार की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु जल और वनस्पति इनका जीवन के साथ अधिक सम्बन्ध है, इनका सेवन भी अनिवार्य है । इन दो पदार्थों की सेव्यता असेव्यता के सम्बन्ध में बहुतसा अंधकार चल रहा है । कोई योग्य नातने (छनने) से छने हुए पानी को भी जलकायिक ही मानते हैं तो कोई वृक्ष से टूटे हुए फल को भी वनस्पति कायिक ही मानते हैं । यहां तक मूर्खता चल गई है कि जिस इक्षुरस का भगवान् ऋषभदेव स्वामी ने अवसर्पण काल की आदि में आहार लिया था उसमें भी असंख्य वनस्पतिकायिक जीव मानते हैं । जिनागम में लोग अपनी बुद्धि लगाने और पूर्वाचार्यों को मूर्ख और शिथिलाचारी वतलाने में यहां तक अग्रगामी हो गये हैं कि आम के रस में भी असंख्य जीवराशि मानकर उसे आग पर गर्म करके खाते-पीते हैं । विना होते हुए भी जीव मानना और पीछे उन असंख्य जीवों के मारने का उनके कलेवर के खाने का अपने माथे पाप लगाते हैं । इस तरह अपनी श्रद्धा और चारित्र प्रवृत्ति दोनों को ही मलिन वनाते हैं । इसी प्रकार शास्त्रोक्त मर्यादा के भीतर योग्य नातने से छने हुए जल में असंख्य अनंत जीवराशि मानना फिर उस जल को गर्म करने और पीने में अपने माथे सम्यक्त्व और चारित्र के दोष की पोट लादते हैं । आगम इस विषय में क्या कहता है इसी वात को वतलाने के लिए इस पुस्तक के लिखने का प्रयास किया गया है ।

आचार्य शिवकोटि प्रणीतायां रत्नमालायां—कीदृशं जलं पेय-

मिति प्रतिपादयंति :—

वस्त्रपूतं जलं पेयमन्यथा पापकारणम् ।
स्नानेऽपि शोधितं वारि करणीयं दयापरैः ॥

अर्थात्—जल कैसा पीना चाहिये ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं कि वस्त्र से छाना हुआ जल पीना चाहिये, अन्यथा पाप का कारण है। तथा स्नान के लिये भी छाना हुआ जल ही काम में लेना चाहिए जिससे दयाभावों की वृद्धि हो। यद्यपि इस कारिका से छना हुआ जल निर्जीव है या सजीव है ऐसा खुलासा नहीं हुआ तथापि "दयापरैः" इस वाक्य से ध्वनित होता है कि छना हुआ जल निर्जीव है। जब आगम यह बता रहा है कि जल की एक बूंद में असंख्यात जलकायिक जीव हैं तब इतने जीवों को पीने वाला दयावान कैसा ? मैं ऊपर बतला चुका हूँ कि किसी सजीव पदार्थ का भक्षण जैनधर्मावलम्बी श्रावक नहीं करेगा। अतः दयावान वही समझा जायगा जो निर्जीव पदार्थों का भक्षण करेगा। इसका खुलासा अगली कारिकाओं से ही हो जाता है।

"जलस्य प्रासुकत्वं कियत् कालमिति वर्णयन्ति"—

"मुहूर्त्तं गालितं तोयं प्रासुकं प्रहरद्वयम्।
उष्णोदकमहोरात्रं ततः सम्मूर्च्छिमं भवेत् ॥"

इसकी हिन्दी टीका स्व० पं० गौरीलालजी सिद्धान्तशास्त्री कृत इस प्रकार है:— वस्त्र से छना हुआ जल दो घड़ी तक तथा छना हुआ जल लवंग इलायची जावित्री इत्यादिकों से प्रासुक किया हुआ पानी दो प्रहर (६ घंटे तक) और छना हुआ जल

तपाया हुआ चोवीस घंटे तक निर्जीव रहता है उसके पश्चात् सम्मूर्च्छन जीव सहित हो जाता है। मर्यादा के अन्दर तीनों प्रकार का जल जलकाय है, जलकायिक नहीं है। छना जल सचित्त योनिभूत है। त्यागी सचित्त-प्रतिमा व्रत पालने वाला और उसके ऊपर के व्रती प्रासुक तथा गरम ही जल पीते हैं। इस ऊपर की कारिका से स्पष्ट हो जाता है कि छना हुआ जल निर्जीव है। जलकाय है। योनिभूत होने से सचित्त कहा जाता है। अन्य प्रकारेण जलं प्रासुकं भवतीति दर्शयति।

"पाषाणस्फोटितं तोयं घटीयंत्रेण ताडितम्।
सद्यः संतप्तवापीनां प्रासुकं जलमुच्यते॥
देवर्षीणां प्रशौचाय स्नानाय च गृहार्थिनाम्।
अप्रासुकं परं वारि महातीर्थजमप्यदः॥

अर्थात्:—अन्य प्रकार भी क्या जल प्रासुक होता है? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते है कि होता है। पत्थरों की चट्टानों से टकराया हुआ और घटी यंत्र से ताड़ित किया हुआ तथा गरम वापियों का ताजा जल साधुओं को शौच विधान के लिये प्रासुक बताया है तथा गृहस्थियों को भी शौच स्नानादि के लिये प्रासुक कहा है, किन्तु भोजन पान के लिये अप्रासुक ही है। नदी सरोवरादि तीर्थों से स्वयं उत्पन्न हुआ भी क्यों न हो किन्तु वह जल अप्रासुक ही है। सारांश यह है कि उपरोक्त जल है तो निर्जीव ही, इसलिये मुनिराज भी इस जल को शौचादिक शुद्धिके काम में लेते हैं अन्यथा यह जल सजीव होता तो मुनिराज इसको छूते भी नहीं। इसलिये उपरोक्त जल निर्जीव प्रासुक ही है तो भी भोजनादिक के लिए अप्रासुक है।

बिना छना पानी पीने का आगम निषेध इसलिए करते हैं कि मर्यादा का लोप हो जाता है। मार्ग दूषित हो जाता है। आज इस उपर्युक्त जल को प्रासुक समझकर अनछना पानी भी हम पीते हैं तो कल हमारी देखादेखी दूसरे लोग भी अन्य जलको जो वास्तव में अप्रासुक है उसको भी पीने लग जायेंगे। मर्यादा टूट जायगी, पापमय प्रवृत्ति फैल जायगी। इस हेतु से उस जलको भी बिन छना पीने के काम में नहीं लेना चाहिये। ऐसी आगम की आज्ञा है। वर्षा का जल भी वर्षते समय प्रासुक है, निर्जीव है। वह अपने निज स्वभावसिद्ध परिणाम से रचित अपने तारल्यादि गुण से अप्काय नामकर्म की प्रकृति के उदय न होने पर भी प्रथन वा फैलाव क्रिया आदि से युक्त अप् है अर्थात् अप्का पहिला भेद है निर्जीव जड़ है तो भी इसको छानकर ही पीने के काम में लेना चाहिये।

छना हुआ जल निर्जीव है इस बात को पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में स्वर्गीय पंडित टोडरमलजी साहब ने भी प्रगट किया है "तथा बत्तीस अंगुल लम्बा चौबीस अंगुल चौडा दोहरा छन्ना से जल छानना सो उस छाने हुये कच्चे जलकी अवधि ४८ मिनट की है तथा छने हुये जल में यदि लवंग, इलायची कालीमिर्च, वगैरह पीसकर डाल दी जाय और इतनी डाली जाय जिससे जलका रंग तथा स्वाद वदल जाय तो उस जलकी अवधि ६ घंटे की है तथा जो जल ओटा लिया जाय तो उसकी अवधि २४ घंटे की है। इस विधि से जल का व्यवहार करना चाहिये।"

यहां पर स्व० पं० टोडरमल्लजी साहब ने तीनों प्रकार के जलों की समान भाव से अवधि का निरूपण किया है जिससे तीनों प्रकार का जल निर्जीव सिद्ध होता है। यदि छना हुआ जलकायिक होता तो पंडितजी छाने जलको अलग जलकायिक ही लिख देते, दूसरे जलों के समान इस जल में मर्यादा की अवधि का प्रयोग कभी भी नहीं करते। इसलिए मानना होगा कि छना हुआ जल अपनी अवधि में अर्थात् अडतालीस मिनट की अवधि में दूसरे जलों के समान निर्जीव है। विशेष इतना है कि यह जल मर्यादा के वाद जलकायिक हो जाता है। इस कारण यह जल योनिभूत है। दूसरे जल योनिभूत नहीं है इसलिये वे जल मर्यादा के वाद भी जलकायिक नहीं होते। वे जल मृतक मनुष्य के शरीर सदृश हैं। अतः छने हुए जल को किसी भी आचार्य ने जलकायिक नहीं वतलाया। जहाँ तहाँ छने हुये जलको जल ही लिखा है सो यह अप्के चारों भेदों में से पहिला भेद है इसलिये निर्जीव है।

यदि थोड़ी देर के लिये छाने हुये जलको जलकायिक ही मानलें, तो महादोष उत्पन्न होगा। कारण यह है कि जव एक वून्द जलमें असंख्यात जलकायिक जीवों की सत्ता मानी गई है तव इस जल को जलकायिक जानता हुआ सचित्त त्यागी प्रतिमाधारी व्रती किस प्रकार जीवों को उवाल कर पीवेगा? कदापि नहीं पीवेगा। यदि पीयेगा तो कथंचित् संकल्पी हिंसा का भागी वने विना नहीं रहेगा। यद्यपि एकेन्द्रिय के घात में संकल्पी हिंसा नहीं मानी है, तथापि यह समझ करके कि इस जलमें असंख्य जीव हैं उनके

विद्यमान रहते मैं इस जलको पी नहीं सकता। अतः इनको नष्ट करके पीऊँगा। इस तरह के परिणाम होना कथंचित् संकल्पी हिंसा में गर्भित हो जाता है तथा वह व्रती है और आगम में उसको दयामूर्ति बतलाया है। अतः दया मूर्ति वही होगा जो जीवों की रक्षा करेगा। वह कहाँ का दयामूर्ति[१] जो असंख्यात जीवों को उबाल कर पीता है। उसको तो हिंसा मूर्ति की कहना चाहिये।

---

१ तथा तत्वार्थवृत्तिकार ने भी छने हुये जलको निर्जीव माना है "एवं विलोडितं यत्र तत्र विक्षिप्तं वस्त्रादिगालितं जलमाप उच्यते, अप्कायिकजीव परिहृतमुष्णं च जलम् अप्कायः प्रोच्यते; अप्कायो विद्यतेयस्य सअप्कायिकः अपः कायत्वेन यो ग्रहीष्यति विग्रहगतिप्राप्तोजीवः स अप्जीवः कथ्यते।" अर्थात् विलोडित किया गया, इधर उधर फैलाया गया, छन्ने से छाना गया पानी जल कहलाता है, जलकायिक जीवों से छोड़ा गया पानी और गरम किया हुआ पानी जलकाय है, जिसमें जल कायिक जीव रहता है उसको जलकायिक कहते हैं, विग्रहगति में रहने वाला वह जीव जल जीव कहलाता है जो आगे जल पर्याय को धारण करेगा। अब इसमें सन्देह करने की गुंजायश भी नहीं है कि छना हुआ जल निर्जीव नहीं है क्योंकि छने हुये जलको वृत्तिकार ने अप्माना है जो जलके चार भेदों में से पहिला भेद अप्होने से निर्जीव स्वतः सिद्ध है।

"प्रत्येकं चतुर्षु भेदेषु मध्ये पृथिव्यादिकं कायत्वेन गृहीतवन्तो जीवा विग्रहगतिं प्राप्ताश्च प्राणिनः स्थावरा ज्ञातव्या तेषामेव पृथिव्यादिस्थावरकायनाम कर्मोदयसद्भावात्। नतु पृथिव्यादयः पृथिवीकायादयश्च स्थावराः कथ्यन्ते अजीवत्वात् कर्मोदयमात्राभावाच्च।"

यहां पर कोई ऐसी शंका करे कि जल छानने में भी जल-कायिक जीवों का घात आपके कथनानुसार हुये विना नहीं रहता। जल छानने वाला भी तो जल गरम करने वाले के समान ही हिंसक समझा जाना चाहिये। इसका समाधान यह है कि जल छानने वाला त्रस जीवों की रक्षा करने के लिये छानता है उसके त्रस जीवों की रक्षा करने के भाव हैं। उसके स्थावर जीवों के मारने के भाव नहीं हैं। त्रस जीवों का वचाव करते समय स्थावर जीवों का घात हो जाता है। जिसका जल छानने वाला क्या करे? यह निरुपाय वात है। कोई डूवते मनुष्य को वचाने के लिये जलमें प्रवेश करता है तो उसके द्वारा जलकायिक जीवों के अलावा छोटे मोटे त्रस जीवों का घात भी हो जाता है तो भी वह अपराधी नहीं है क्योंकि उसका भाव मनुष्य को वचाने का है। जलकायिक और त्रस के घात करने का भाव नहीं। इस कारण उसको पुण्य वन्ध ही होगा। इसी प्रकार त्रस जीवों के वचाने के भाव से जल छानकर काम में लेता है उससे जल छानने में जलकायिक जीवों का घात भी हो जाता है। तोभी वह जलकायिक जीवों के घात का अपराधी नहीं है किन्तु त्रस जीवों के वचाने के भावों से उसको पुण्य वन्ध ही होता है। परन्तु छने हुये जल को जलकायिक समझकर भी गरम करके उस जल के जीवों को नष्ट करके जो काम में लेता है उसको केवल पाप वन्ध ही होगा। क्योंकि यहाँ पर केवल जलकायिक जीवों के नष्ट करने के ही भाव हैं इसलिये जल छानने में जो जलकायिक मर जाते हैं और छने

हुये जल को जलकायिक समझ कर उसको नष्ट करने के लिये गरम करते हैं इन दोनों में बड़ा अन्तर है। अतः छना हुआ जल जलकायिक नहीं। जो उसे/जलकायिक मानता है वह यातो आगम से अनिभिज्ञ है या इस पर विचार ही नहीं किया है या केवल सुनी पर ही विश्वास कर चलते हैं। उन सबको इस पर अच्छी तरह विचार करके अपनी गलती को सुधारकर आगमानुकूल प्रवृत्ति करनी चाहिये। वसुनंदिश्रावकचार की टीका ऊपर में उदधृत की गई है उसमें आपके जो चार भेद किये गये हैं उनमें पहिले भेद का लक्षण "जलमांदोलितं लोकैः सकर्दमंतथापूभवेत्" ऐसा किया है अर्थात् हवा से लहराता हुआ विलोड़ित जल अथवा रास्ते में पड़ा हुआ कर्दम सहित जल समुदाय के पैरों से विलोडित जल या छन्ने पर छार डारने से छन्ने से टकरा कर विलोड़ित हुआ जल-जल है जल का पहिला भेद है जो निर्जीव है। यहाँ पर एक बात और ध्यान में लाने की है:—वह यह है कि छन्ना दोहरा होने से पहिले पुड़त तंतुओं का छिद्र दूसरे पुड़त के तंतुओं से आच्छादित होजाता है जिससे जल सीधा न निकल कर दूसरे पुड़त के तन्तुओं से घिसकर तिरछा निकलता है इसलिये सूक्ष्म त्रसजीव भी ऊपर के पुडत में रहजाते हैं और जल के जलकायिक जीव भी तन्तुओं की रगड से नष्ट होजाते हैं। इसलिये छना हुआ जल विलोड़ित है अरहट की घड़ियों से विलोड़ित के सदृश है। ऊपर बताया गया है कि "घटी यंत्रेन ताडितं" घटी रूपी यंत्र से ताड़ित, विलोड़ित, जल प्रासुक है। उसी प्रकार छना हुआ

जल छन्ने रूपी यंत्र से ताड़ित है, विलोड़ित है इस कारण प्रासुक है। सागरधर्मामृत में दूसरी अध्याय की टिप्पणी में देखिए।

"वातातपादिसंस्पृष्टे, भूरितोये जलाशये।
अवगाह्याचरेत् स्नानमतोन्यद्गालितंभवेत्॥"

अर्थात् गृहस्थों को हवा और सूर्य की किरणों के कारण जल कल्लोंले लेता है ऐसे भरपूर सरोवर में घुसकर स्नान करना चाहिये यह जलस्नान करने के लिये छाने हुये जल के समान है। सारांश यह है कि प्रथम तो जलकायिक जीवों की अवगाहना सूक्ष्म है घनांगुल के असंख्यातवें भाग है। दूसरी बात यह कि जलकायिक जीवों का शरीर बहुत मृदु अर्थात् कोमल है। इस कारण जब हवा के टकराने मात्र से अथवा सूर्य की तप्तायमान किरणों की गरमी लगने से नष्ट हो जाते हैं तब जल छानते समय जल के ऊपर से गिरने पर धारा पड़ती है और छन्ने के तंतुओं से रगड खाकर धारा निकलती है तो वहां पर वह छना हुआ जल जलकायिक किस प्रकार रह सकता है अर्थात् नहीं रह सकता है इस कारण छना हुआ जल निर्जीव है। ब्र० भूरामलजी ने यंत्र का अर्थ कोलू, घटी, चक्की वगैरह किया है। चाकू वगैरह को शस्त्र कहकर टाल दिया है किन्तु ऐसा नहीं है कोलू, घटी 'चाकी के अतिरिक्त और भी वहुतसी चीजें यंत्र शब्द में प्रयुक्त होती हैं। सब्जी को छिन्न भिन्न करने में चाकू छुरी यंत्र है। दूर की वस्तु देखने में दूरबीन भी यंत्र है। अरहट की घड़ियां भी जल को ताड़ित करने

में यंत्र है। ऊपर बतलाया गया है कि 'घटीयंत्रेन ताड़ि र तोयं' इसका अर्थ अरहट की घटी रूपी यंत्र से ताड़ित जल ऐसा करना पड़ेगा यहां अरहट घटियों को भी यंत्र शब्द से घोषित किया गया है। अथवा जहां सब्जो फल वगैरह को छिन्न भिन्न करने का प्रसंग आता है वहां कोलू चक्को काम में नहीं आती वहां पर तो चाकू, छूरी, हसिया (दांतली) वगैरह यंत्र ही काम में लिया जाता है। तार खेंचने की जन्त्री भी यंत्र है। पानी छानने के लिये दोहरा छन्ना भी यंत्र है, जिस प्रकार जन्त्री के छिद्र में से तार घिसकर निकलता है उसी प्रकार दोहरे छन्ने के छिद्रों में से घिसकर पानी निकलता है इसलिये पानी छानने के लिये छन्ना भी यंत्र ही है। वसुनन्दिश्रावकाचार की टीका में वनस्पति को पहिले भेद के निरूपण में 'छिन्न भिन्न तृणादिश्च, वनस्पतिरिहोच्यते। या, छिन्नभिन्नांकुरादिश्च, वनस्पतिरिहोच्यते'। इसका अर्थ यह होता है कि छिन्न भिन्न किये हुये अंकुरादिक भी वनस्पति हैं। आपने भी ऐसा ही अर्थ किया है। यह वनस्पति का पहिला भेद है सर्वार्थ सिद्धि, राजवार्तिक, मूलाचार आदि ग्रंथराजों की उक्ति से यह पहिला भेद निर्जीव है और यह छिन्न भिन्न चाकू आदि से ही होता है। कोलू, चक्की से नहीं। चाकू छुरी आदि से छिन्न भिन्न की हुई वनस्पति को आगम निर्जीव वतला रहा है परन्तु भूरामलजी वावाजी अपनी ओर से लेकिन लगाकर कहते हैं कि 'उसमें भी सचित्तता का सद्भाव बना ही रहता है निःसंदेह अचित्त नहीं हो पाता' 'खैर' यह उनकी मान्यता है। परन्तु वनस्पति को छेदन भेदन

करने में चाकू छुरी वगैरह यंत्र तो सिद्ध हो ही चुका जिसको शस्त्र कहकर उड़ा ही दिया था। वैद्यों के पास भस्मादि औषधियों के बनाने के पचासों यंत्र हैं, सुनार के पास गहना बनाने के लिये सैकड़ों तरह के यंत्र हैं। बढ़ई खाती के पास भी कपाट, कुर्सी, टेबिल आदि बनाने के लिए पचासों तरह के यंत्र हैं जहां जिसकी जरूरत हो वही यंत्र वहां पर काम में लिया जायगा। सब जगह घटी कोलू से काम नहीं चलता। यह यंत्र तो आटा पीसने का और तैलादि निकालने का यंत्र है, इसलिये मानना पड़ेगा कि केवल घटी कोलू ही यंत्र नहीं है किन्तु इसके अतिरिक्त हजारों तरह के यंत्र हैं। टेलीफोन, रेडियो, तार वगैरह भी यंत्र ही हैं जहां पर जिस यंत्र की जरूरत है वहां पर उसी यंत्र से काम लिया जायगा। यह युक्ति, आगम और प्रमाण से सिद्ध बात है अतः वनस्पति को छिन्न भिन्न करने में चाकू-छुरी आदि ही यंत्र है यह आगम और युक्ति से निर्विवाद सिद्ध है। ब्रह्मचारीजी ने एक प्राचीन गाथा सचित्त को अचित्त करने के सम्बन्ध में दी है वह इस प्रकार है :—

तत्तं पक्कं सुक्कं, अम्बिललवणेहिं मिस्सियं दव्वं।
जं जन्तेणयछिण्णं, तं सव्वं पासुयं भणियं ॥

इस गाथा में खाने योग्य पदार्थों को प्रासुक करने की विधि पांच तरह से बतलाई है अर्थात् कोई पदार्थ अग्निद्वारा तप्त करने से, कोई वस्तु स्वतःकाल पाकर परिपक्व होने पर, कोई द्रव्य सूख

जाने पर कोई पदार्थ छिन्नभिन्न यंत्र द्वारा करने पर और कोई पदार्थ लोंग इलायची वगैरह डालने पर (मिश्रित) करने पर प्रासुक होता है। इस गाथा में द्रव्य शब्द आया है जिसको ब्रह्मचारी भूरामलजी साहब ने सामान्यतः वस्तु मात्र का द्योतक बतलाया है। यद्यपि द्रब्य शब्द, से सामान्यतः सर्व वस्तुओं का ग्रहण हो जाता है तथापि यहां प्रकरण है—खाद्य पदार्थों को प्रासुक करने का, इसलिये खाने योग्य पदार्थ मुख्यतया जल और वनस्पति ये दो ही पदार्थ हैं। कथंचित् क्वचित् पृथिवी भी औषधादिक के सेवन में काम आती है जैसे सोना, चांदी, लोहा, ताम्र, जश्त, नाग, कांसा, पीतल, मंडूर, हीरा, पन्ना, माणिक्य, मोती, मूंगा मैंनसिल वगैरह की भस्में, किन्तु इसका यहाँ प्रकरण नहीं है। ये भस्में तो स्वतः प्रासुक हैं। जो भक्षण करने योग्य जल और बनस्पति अप्रासुक है उसी को प्रासुक करने का विधान इस गाथा द्वारा बतलाया गया है। अतः जल तपाने से, कषायले पदार्थ डालने से (लवंग इलायची वगैरह डालने पर) या छन्ने रूपी यंत्र के द्वारा छानने से प्रासुक हो जाता है। तथा वनस्पति सर्व ही सूख जाने पर या अग्नि द्वारा पक जाने या काल पक होने पर प्रासुक हो जाती हैं किन्तु पंच उदम्बर फल किसी भी हालत में अचित्त नहीं होते। उनमें त्रसजीवों का कलेवर अर्थात् मांस रहता है इसलिये वह अचित्त नहीं होते तथा कंद, मूलादि अनन्तकायिक पदार्थ यद्यपि सूखने पर या गर्म कर लेने पर अचित्त हो जाते हैं तथापि उत्तम लोगों के लिये अनुपसेव्य हैं। इसलिये कन्द मूलादि अनन्तकायिक पदार्थों

को उच्च त्रिवर्ण नहीं खाते। उत्तम लोग तो अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति को ही चाकू, छूरी आदि यंत्रों से छिन्न भिन्न करके ही खाते हैं। बिना छिन्न भिन्न किये पूर्ण फल को खाने की आगम की मनाई है। इसका कारण यह है कि फल के अन्दर यदि लटें आदिक जंतु हों तो वह दिखाई नहीं पड़ते और खाने में आजाते अथवा फल के अंदर बीज सचित्त हैं वह खाने में आजाते हैं हैं इसलिये पूरे फल खाने की मनाई है। फल को चाकू आदि से छिन्न भिन्न करने से फल के अंदरका भाग संदेह रहित शोधित हो जाता है और सचित्त बीजों को भी निकाल दिया जाता है।

यहाँ पर शंका हो सकती है कि क्या फल के गुदे में सचित्त पना नहीं है! जबकि सप्रतिष्ठित प्रत्येक की सर्वोत्कृष्ट अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भाग मात्र मानी गई है तब फल के गुदे में भी तो सप्रतिष्ठित प्रत्येक की सत्ता पाई जानी चाहिये। इस अवस्था में वह फल का गुदा अचित्त किस प्रकार से मान लिया जायगा क्योंकि चाकू आदि से छिन्न भिन्न करने पर भी तो चाकू आदि का घात सर्वत्र तो लगता नहीं। जिस भाग में चाकू आदि का स्पर्श नहीं हुआ है उस भाग में तो सचित्तपना विद्यमान मानना ही होगा। इसलिये ब्र० भूरामलजी का यह कहना ठीक प्रतिभासित होता है कि वनस्पति के प्रत्येक कण २ में जीव विद्यमान हैं। इसलिये वनस्पति को सिजाकर ही खाना चाहिये तब ही वह निर्जीव हो सकती है, अन्यथा नहीं।

शंकाकार की यह शंका और ब्र० भूरामलजी का समाधान दोनों

ही ठीक नहीं है हम आगम का प्रमाण देकर ऊपर में बतलाचुके हैं कि छिन्न भिन्न की हुई बनस्पति बनस्पति है। बनस्पति के चार भेदों में पहिला भेद है अतः निर्जीव है। आगम के सामने किसी की कुछ भी नहीं चलती। आगम जो कह रहा है वही ठीक है। जब आगम यह कह रहा है कि "छिन्नभिन्नांकुरादिश्च, बनस्पतिरिहोच्यते"। अर्थात् अंकुरादि छिन्न भिन्न की हुई बनस्पति बनस्पति है। बनस्पति के चारों भेदों में पहिला भेद है। जिसको आगम निर्जीव घोषित करता है उसको हम सजीव समझें तो हमारी गलती है। छिदिर् धातु से छिन्न बना है जिसका अर्थ होता है छेदन करना या फोड़ना। इसका दोनों ही जगह प्रयोग होता है। क्योंकि छिदिर् धातु का अर्थ द्वैधी करण है। छेदन करने का अभिप्राय अलग कर देने का है जैसे वृक्ष से फल पत्ते वगैरह को छेदन करके अर्थात् काटकर अलग कर देना। फोड़ने का अभिप्राय तोड़ने का है जैसे खान में से पत्थर को तोड़कर अलग कर देना। या वृक्ष से फलादिक को तोड़कर वृक्ष से अलग कर देना। तथा भिदिर् धातु से भिन्न बनता है अर्थात् विदारण करना, चीरना, फाड़ना भिन्न कहलाता है। जैसे ककड़ी आम वगैरह फलों को चीर फाड़कर उसके बीजादि को अलग कर देना भिन्न कहलाता है। अतः कंद मूलादि को छोड़कर या गुलंच अमरबेलादिलताओं को छोड़कर शेष की सब बनस्पत्ति छिन्न और भिन्न करने से अचित्त हो जाती है ऐसा पूर्वाचार्यों का मत है। इसलिये छिन्न भिन्न की हुई बनस्पति को सचित्त समझ कर फिर उसको अचित्त

करते हुये गोम्मटसार में इस गाथा की दोनों टीकाएँ इस प्रकार हैं। अतीन्द्रियार्थेषु प्रवचनोक्तविधिनिषेधसंकल्पपरिणामो भावः तदाश्रितं वचः भावसत्यं यथा शुष्कपक्वध्वस्ताम्ल लवणसंमिश्र: दुग्धादिद्रव्यं प्रासुकं अतस्तत्सेवने पापबंधो नास्तीति पाप-वर्ज्य वचनं तत्र सूक्ष्म जन्तूनामिंद्रियागोचरत्वेऽपि प्रवचन प्रामाण्यात् प्रासुकाप्रासुकसंकल्परूपभावाश्रितवचनस्य सत्यत्वात् सकलातींद्रियार्थज्ञानिप्रोक्तप्रवचनस्य सत्यत्वात्। च शब्दः एवं विधानुक्तभावसत्यसमुच्चयार्थः। भावार्थ—अतीन्द्रिय जो पदार्थ तिनिविषैं सिद्धान्त के अनुसार विधि निषेध कर संकल्प रूपजो परिणाम सो भाव कहिये तीहिनैं लिये जो वचन सो भावसत्य कहिये जैसे जो सूकि गया होइ वा अग्निकरि पच्या होइ वा घटी कोल्हू इत्यादिक शब्द से जिस यंत्र के द्वारा छिन्न भिन्न किया जाय उन सब यंत्र करि छिन्न किया होय अथवा खटाई वा लूण करि मिश्रित हुआ होय वा भस्मीभूत हुवा होय वस्तु ता को प्रासुक कहिये। याके सेवने में पाप वन्ध नांही। इत्यादिक पाप वर्जन रूप वचन सो भावसत्य कहिये यद्यपि इनि वस्तुनिविषैं इन्द्रिय अगोचर सूक्ष्म जीव पाये हैं। तथापि आगम प्रमाणतैं प्रासुक अप्रासुक का संकल्प रूप भाव के आश्रित ऐसा वचन सो सत्य है जातैं समस्त अतीन्द्रिय पदार्थ के ज्ञानी-निकरि कहा हुआ वचन सत्य है चकार करि ऐसा ही और भाव

यह स्व० पं० टोडरमलजी द्वारा उपरोक्त टीका का किया हुआ अर्थ है। पक्व का अर्थ टोडरमलजी साहब ने सामान्य रूप से अग्नि-पक्व किया है किन्तु विशेष रूप से काल-पक्व पाल-पक्व भी पक्व का अर्थ होता है सोभी पक्व अर्थ में ग्रहण करलेना योग्य है। काल पक्वादिभी अग्नि-पक्व में ही गर्भित है। एवं जबतक अन्य पक्व का निषेधात्मक वचन नहीं मिले तब तक पक्व शब्द का अर्थ उपरोक्त स्वयमेव पका हुआ या किसी तरह पकाया हुआ दोनों अर्थ ग्राह्य है। इसटीका से स्पष्ट हो जाता है कि अतीन्द्रिय ज्ञानी कहिये केवल-ज्ञानी द्वारा बताये हुए इस प्रासुक को निर्जीव और बन्ध वर्जित कहना यह भाव सत्य है। इससे ज्यादा और खुलासा क्या होगा? इसमें गाथा वा टीका में ऐसा शब्द कहीं पर भी नहीं आया है कि कोई चीज इनमें से किन्हीं दो या तीन तरकीबों द्वारा प्रासुक की जा सकती हैं, जो प्रमाणकर लिया जाय अथवा दो या तीन तरकीबों से ही क्यों चार या पांच तरकीबों से क्यों नहीं प्रासुक किया जाय ऐसा निषेधात्मक शब्द इस गाथा या टीका में कहाँ है। यदि नहीं है तो फिर दो या तीन तरकीबों का ही नियम क्यों बतलाया, पाँचों तरकीबों तक से कहना था। अतः ब्रह्मचारीजी का कहना निराधार कल्पनामात्र है, श्रद्धान करने योग्य नहीं है। क्योंकि टोडरमलजी साहबने प्रत्येक शब्द के साथ वा शब्द दिया है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सूखने पर वा तपाने पर वा यंत्र से छिन्न भिन्न करने पर प्रत्येक विधि से प्रासुक होजाता है। इसलिये दो या तीन तरकीबों से प्रासुक होता है, यह कहना सर्वथा अनुचित है।

करने के लिये अग्नि के द्वारा पकाया जाना उसमें रहने वाले जीवों का घात करना है। उसको कोई भी दया मूर्ति नहीं कहेगा प्रत्युत वह हिंसा मूर्ति ही समझा जायगा।

दयामूर्ति तो वही कहलायेगा जो निर्जीव पदार्थों की अवस्था के अनुसार भक्षण करने की व्यवस्था करेगा। अर्थात् शाक भाजी को सिजाकर खायगा विना सिजाये साग भाजी वनती नहीं। इसलिये उसको सिजाकर ही खायेगा। अन्नादिक को कूट पीसकर के खीचड़ी रोटी आदि वनाकर के ही खायेगा। आम, खरवूजा ककड़ी नारंगी आदि को वनाकर या रस निकालकर ही खायेगा। इससे यह नहीं समझलेना कि साग भाजी पहिले सचित्त थी पीछे उसको उवालकर अचित्त की है या अन्न पहले सचित्त था पीछे उसको कूट पीसकर रोटी आदि वनाकर अचित्त किया है या आम आदि पहिले सचित्त था, पीछे उसको चीर फाड़कर रस निकालकर अचित्त किया है जैसा कि व्र० भूरामलजी ने समझलिया है वैसा नहीं है। वे सव पहिले ही अचित्त थे, यह तो खाने की अलग २ व्यवस्था है। जो वस्तु जिस प्रकार से खाई जाती है उस वस्तु को उसी प्रकार से खाई जानी है। इसमें सचित्त अचित्त का क्या सम्वन्ध है। व्र० भूरामलजी ने अपने ट्रेक्ट में ऐसी असंगत वातें लिखदी हैं जिनका सचित्त से कोई सम्वन्ध ही नहीं। "जैसे तंदुल, यद्यपि उसके ऊपर का छिलका उतर गया है अतः वह उगने लायक भी नहीं है और सूखभी गया है तो भी संयमी के खाने लायक

नहीं है जब उसको अग्नि पर पकालिया जायगा तभी भक्ष्य होगा। कोई चीज धूप में या अग्नि पर तपा लेने से शुद्ध हो जाती है जैसे नवनीत मक्खन को आग पर चाहे धूप में तपाकर छानलिया जायगा तो वह भक्ष्य हो जायगा एवं कोई चीज में खटाई और लवण वगैरह मिलाने से घिलमिल करने से शुद्ध होती है।

मिश्र शब्द का अर्थ सिर्फ लगा लेना मात्र नहीं होता किन्तु किन्हीं भी कई चीजों का परस्पर में मिलकर के तन्मय हो जाना होता है। जैसे दूध और पानी आपस में मिल जाते हैं सो कोई चीज नमक वगैरह के मेल से शुद्ध होती है जैसे मूंगे की शाकों को दो रोजतक छाछ में भिजो लेने से निर्दोष होती है। हिंगलू को छागी के दूध में सम्मिश्रण कर लेने पर शुद्ध होता है। तथा आँवलासार गंधक को आगपर तपाकर दूध में डालने से पवित्र होता है इसी प्रकार से पारद को आंवलासार गंधक के साथ मिलाकर उसकी कजली बनालेने के बाद ही वह खाने के योग्य दवाओं में डाला जाता है। इत्यादि "वाहरे सचित्त विचार! क्या इसका नाम सचित्त विचार कहलाता है? ट्रेक्ट पर नाम तो रक्खा है 'सचित्त विचार' और विचार कर रहे हैं शुद्धाशुद्धका या खाद्य अखाद्य का अथवा पवित्र अपवित्र का एवं उपयोगी अनुपयोगी का। अतः उपरोक्त कथन से सचित्तविचार बहुत दूर है। अब हम ब्रह्मचारी जी से पूछते हैं कि जो गेहूँ, चने, चावल, वगैरह अनाज सूख जाने पर भी जब तक आग से पका नहीं लियाजाय तब तक संयमी के खाने योग्य नहीं होते ऐसा जो आपने लिखा है तो क्या इनको असंयमी विना

पकाये ही फांका मारते हैं ? यदि नहीं, वे भी पीस पकाकर खाते हैं तो यह समझो कि यह अनाज के खाने की विधि है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि अनाज सूख जाने पर भी सचित्त समझा जाता है इसलिये संयमी पकाकर खाते हैं।

यदि ऐसा कहो कि अनाज योनिभूत सचित्त है इसलिये पकाकर खाते हैं तो ठीक है, परन्तु अनाज को दल लिया जाय फिर तो योनिभूत नहीं रहते। फिर उसको क्यों नहीं खाते, इसलिये आपको मानना पड़ेगा कि यह तो अनाज के खाने को विधि है। इस विधिको ऐसा समझना कि "सुक्कं जं जन्तेणय छिण्णं तत्तं" इन तीन तरकीबों के द्वारा अनाज को कुचलने पर ही अनाज अचित्त होता है अर्थात् अनाज को सुखाकर फिर उसको पीसकर पकालेने से ही अचित्त होता है अन्यथा नहीं जैसा कि आपने ("तत्तं पक्कं सुक्कं अमिललवणेहि मिस्सियं दव्वं, जं जन्तेणय छिण्णं तं सव्वं पासुयं भणियं") इस गाथाका भावार्थ समझाते हुये आपने लिखा है कि "कोई चीज इनमें लिखी हुई किसी एक तरकीब से प्रासुक होती है तो कोई चीज किसी दूसरी एक तरकीब से तथा कोई चीज इनमें से किन्हीं दो या तीन तरकीबों द्वारा प्रासुक की जासकती है, ऐसा लिखा है। जिसका अभिप्राय यह है कि अनाज उपरोक्त तीन तरकीबों के किये बिना अचित्त नहीं होता अथवा गीली वनस्पति को छिन्न और भिन्न करके पकालेने से ही अचित्त होती है। संभव है इसलिये ही आप संतरे आदि के रसोंको भी गरम करके लेने का विधान बतलाते हैं और आप भी गरम

करके ही लेते हैं। क्या ऊपर की गाथा का भाव जैसा आपने उपयुक्त समझकर रखा है यदि ऐसा ही है तो बतलाइये कि ऐसा इस गाथा का अर्थ किस विद्वान ने किया है। यदि ऐसा अर्थ किसी विद्वान् ने नहीं किया है तो आपकी अपनी कल्पना से किये हुए अर्थ को अनर्थकारी समझकर कोई भी स्वीकार नहीं करेगा। प्रथम तो आपने गाथा के शब्दों में ही हेर फेर कर दिया सो हेर फेर करने का आपको क्या अधिकार था ? किसी की कृति में फेर कर देना क्या महा अपराध नहीं है ? दूसरा अपराध यह है कि गाथा के अर्थका अनर्थ किया है। क्या वाणीभूषणों का यही काम है ? जो जहाँ वाणी अटके तहाँ हेर फेर करदें। गाथा में जहाँ 'दव्वं' शब्द है वहाँ पर तो आपने कोई शब्द रखदिया है तथा गाथा में जहाँ सव्वं शब्द है तहाँ आपने दव्वं शब्द रख दिया है। गाथा इस प्रकार है "सुक्कं, पक्कं, तत्तं अम्मिललवणेहि मिस्सियं दव्वं, जं जन्तेण य छिण्णं, तं सव्वं फासुयं भणियं" इसकी टीका स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा में इस प्रकार स्व० पं० जयचन्दजी ने लिखी है,—

शुष्कं पक्वं तप्तं अम्ललवणाभ्यां मिश्रितं द्रव्यं यत् यन्त्रेण च छिन्नं तत् सर्वं प्रासुकं भणितम्। भावार्थः—सुखाया हुआ पकाया हुआ, तपाया हुआ, खटाई लवण से मिश्रित तथा जो यंत्र से छिन्न भिन्न किया हुआ अर्थात् शोधा हुआ हो ऐसा सब हरितकाय प्रासुक कहिये जीव रहित अचित्त होता है। "भावसत्य का निरूपण

करते हुये गोम्मटसार में इस गाथा की दोनों टीकाएँ इस प्रकार हैं। अतीन्द्रियार्थेषु प्रवचनोक्तविधिनिषेधसंकल्पपरिणामो भावः तदाश्रितं वचः भावसत्यं यथा शुष्कपक्वध्वस्ताम्ल लवणसंमिश्र-दुग्धाधिद्रव्यं प्रासुकं अतस्तत्सेवने पापबंधो नास्तीति पाप-वर्ज्यं वचनं तत्र सूक्ष्म जन्तूनामिंद्रियागोचरत्वेऽपि प्रवचन प्रामाण्यात् प्रासुकाप्रासुकसंकल्परूपभावाश्रितवचनस्य सत्यत्वात् सकलातींद्रियार्थज्ञानिप्रोक्तप्रवचनस्य सत्यत्वात्। च शब्दः एवं विधानुक्तभावसत्यसमुच्चयार्थः। भावार्थ—अतीन्द्रिय जो पदार्थ तिनिविषैं सिद्धान्त के अनुसार विधि निषेध कर संकल्प रूपजो परिणाम सो भाव कहिये तीहिनै लिये जो वचन सो भावसत्य कहिये जैसे जो सूकि गया होइ वा अग्निकरि पच्या होइ वा घटी कोल्हू इत्यादिक शब्द से जिस यंत्र के द्वारा छिन्न भिन्न किया जाय उन सब यंत्र करि छिन्न किया होय अथवा खटाई वा लूण करि मिश्रित हुआ होय वा भस्मीभूत हुवा होय वस्तु ता को प्रासुक कहिये। याके सेवने में पाप वन्ध नांही। इत्यादिक पाप वर्जन रूप वचन सो भावसत्य कहिये यद्यपि इनि वस्तुनिविषैं इन्द्रिय अगोचर सूक्ष्म जीव पाये हैं। तथापि आगम प्रमाणतैं प्रासुक अप्रासुक का संकल्प रूप भाव के आश्रित ऐसा वचन सो सत्य है जातैं समस्त अतीन्द्रिय पदार्थ के ज्ञानी-निकरि कहा हुआ वचन सत्य है चकार करि ऐसा ही और भाव सत्य जानना।"

यह स्व० पं० टोडरमलजी द्वारा उपरोक्त टीका का किया हुआ अर्थ है। पक्क का अर्थ टोडरमलजी साहब ने सामान्य रूप से अग्नि-पक्क किया है किन्तु विशेष रूप से काल-पक्क पाल-पक्क भी पक्क का अर्थ होता है सोभी पक्क अर्थ में ग्रहण करलेना योग्य है। काल पक्कादिभी अग्नि-पक्क में ही गर्भित है। एवं जबतक अन्य पक्क का निषेधात्मक वचन नहीं मिले तब तक पक्क शब्द का अर्थ उपरोक्त स्वयमेव पक्का हुआ या किसी तरह पकाया हुआ दोनों अर्थ ग्राह्य है। इसटीका से स्पष्ट हो जाता है कि अतीन्द्रिय ज्ञानी कहिये केवल-ज्ञानी द्वारा बताये हुए इस प्रासुक को निर्जीव और वन्ध वर्जित कहना यह भाव सत्य है। इससे ज्यादा और खुलासा क्या होगा? इसमें गाथा वा टीका में ऐसा शब्द कहीं पर भी नहीं आया है कि कोई चीज इनमें से किन्हीं दो या तीन तरकीवों द्वारा प्रासुक की जा सकती हैं, जो प्रमाणकर लिया जाय अथवा दो या तीन तरकीवों से ही क्यों चार या पांच तरकीवों से क्यों नहीं प्रासुक किया जाय ऐसा निषेधात्मक शब्द इस गाथा या टीका में कहाँ है। यदि नहीं है तो फिर दो या तीन तरकीवों का ही नियम क्यों वतलाया, पाँचों तरकीवों तक से कहना था। अतः ब्रह्मचारीजी का कहना निराधार कल्पनामात्र है, श्रद्धान करने योग्य नहीं है। क्योंकि टोडरमलजी साहवने प्रत्येक शब्द के साथ वा शब्द दिया है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सूखने पर वा तपाने पर वा यंत्र से छिन्न भिन्न करने पर प्रत्येक विधि से प्रासुक होजाता है। इसलिये दो या तीन तरकीवों से प्रासुक होता है, यह कहना सर्वथा अनुचित है।

ब्रह्मचारीजी ने अपने सचित्त विचार नामक ट्रेक्ट में प्रत्येक गाथा के अर्थ में मनोनीत आगमविरुद्ध कथन किया है। उन सबका दिग्दर्शन इस पुस्तक में यथास्थान कराया जायेगा। गोम्मटसार की गाथा नं० १८६ के अर्थ में आप लिखते हैं कि "योनिभूत बीज के होते हुये वहाँ पर निरन्तर (अर्थात् अन्तर रहित) जीव उत्पन्न होते रहते हैं और अपनी आयु के नष्ट होने पर मरते रहते हैं।" उस योनिभूत बीज के होने पर दुबारा-वही जीव जो इसमें पहिले उत्पन्न हुआ था-और अपनी आयु पूरी कर दूसरा जगह भी उत्पन्न हो चुका था वहां पर उसमें फिर वही जीव भी वहां से आकर उत्पन्न हो सकता है अथवा दुबारा भी आकर वहाँ पैदा हो सकता है। "वह एवं सभी मूलादि जाति की वनस्पतियाँ अपनी प्रथम अवस्था में उत्पत्ति के समय प्रथम समय से लेकर के एक अंतर्मुहूर्त तक तो प्रतिष्ठित प्रत्येक ही रहती हैं। मतलब यह है कि हर एक वनस्पति का यह हाल है जो सर्व प्रथम अवस्था में तो वह अप्रतिष्ठित ही रहती हैं। बाद में वह साधारण वनस्पतिकायिक जीवों से आश्रित होकर सप्रतिष्ठित होजाती हैं। तदनन्तर अन्त में फिर अप्रतिष्ठित अवस्था में आजाती हैं। मूली गाजर वगैरह जिनको कि हम साधारण समझते हैं वे सप्रतिष्ठित हैं लेकिन अंत में वे भी अप्रतिष्ठित हो जाती हैं। उस समय हमारे खाने के काम में आने लायक नहीं रहती हैं क्योंकि बोलचाल में उसको करड़ी होजाना या उसमें लकड़ी पड़जाना कहते हैं। गाथा इस प्रकार है:—

बीजे जोणीभूदे जीवो चंकमहिसो व अण्णो वा।
जे विय मूलादीय ते पत्तेया पढमदोय "१८७"

"बीजे मूलादिबीजावसाने योनिभूते जीवोत्पत्तियोग्ये जाते सति स एव तत्र स्थित एव जीवः मृत्वा स्वायुक्षयवशेन मुक्तशरीरो भूत्वा पुनस्तत्रैव प्रक्रामति उत्पद्यते अन्यो वा अन्य शरीरांत-व्यवस्थितो जीवः स्वायुक्षयवशेन त्यक्तशरीरोभूत्वा आगत्य स्वयोग्य-मूलादिबीजे प्रक्रामति। येऽपिच मूलकादयः—प्रतिष्ठितप्रत्येक शरीरत्वेन प्रतिबद्धास्तेऽपि खलु प्रथमतायां स्वोत्पन्नप्रथमसमये अंतमुहूर्तकालं साधारणजीवैरप्रतिष्ठितप्रत्येका एव भवंति।"

हिन्दी टीका स्व० पं० टोडरमलजी कृत "बीजे कहिये पूर्वै जे कहे मूलकूं आदि देकरि बीज पर्यन्त बीज जीव उपजने का आधार-भूत पुद्गल के स्कंध सो योनीभूत कहिये जिस विषै जीव उपजै ऐसी शक्ति संयुक्त होतसंतै जल वा कालादिक का निमित्त पाकर सो ही जीव वा और जीव आनि उपजै हैं। भावार्थ-पूर्वै जो व जविषैं जीव-तिष्ठै था सो जीव तो निकलगया और उस बीज विषै ऐसी शक्ति रही जो इस विषैं जीव आनि उपजै तहाँ जलादिक का निमित्त होतैं पूर्वै जीव उस बीज को अपना प्रत्येक शरीर करि पीछैं अपना आयु के नासतैं मरण पाइ निकल गया था सोई जीव बहुरितिसही अपने योग्य जो मूलादिबीज तींही विषै आनि उपजै है अथवा जो वह जीव और ठिकानै उपज्या होई तो इस बीज विषैं अन्य कोई शरीरांत विषै तिष्ठता जीव अपना आयु के नाशतैं मरण पाइ

आनि उपजै है किछुविरोध नाहीं। जैसे गेहूँ विषैं जीवथा सोनिकसि-
गया। बहुरि याकों बोया तब उसही विषैं सो ही जीव वा अन्य जीव
आनि उपज्या सो यावत् काल जीव उपजने की शक्ति होइ तावत्
काल योनीभूत कहिये। जब ऊगने की शक्ति न होय तब अयोनीभूत
कहियें ऐसा भेद जानना। बहुरिमूलतैं आदि देकरि वनस्पति काय
प्रत्येक प्रतिष्ठित प्रसिद्ध हैं तेऊ प्रथम अवस्था विषैं जन्मतैं प्रथम
समयतैं लगाय अंतर्मुहूर्त काल पर्यंत अप्रतिष्ठित प्रत्येक ही रहे हैं
पीछै निगोद जीव जब आश्रय करैं हैं तब सप्रतिष्ठित प्रत्येक होय हैं।

इस उपरोक्त गाथा में या गाथा की टीका में ऐसा शब्द कहीं पर
नहीं आया है जो "योनी भूत बीज के होते वहाँ पर निरन्तर
(अर्थात् अंतर रहित) जीव उत्पन्न होते रहते हैं और अपनी
आयु के नष्ट होने पर मरते रहते हैं" जैसा कि भूरामलजी साहब
ने अपने ट्रैक्ट में लिखा है। यह उनकी कल्पना मात्र है क्योंकि
बीज संज्ञा उसो की है जो जीव रहित हो और उस बीज में जीव
उत्पन्न होने की शक्ति विद्यमान हो। पृथिवी जलादिक का निमित्त
पाकर उस बीज में जो पहिले जीवथा वह निकल गया था वही
आकर उसमें उपजे या दूसरा आकर उसमें उपजे उसको बीज
कहते हैं। जब बीज में जीव आकर उत्पन्न होगा तब उस बीज मे
अंकुर अवश्य पैदा हो जायेगा। जब तक बीज में जीव उत्पन्न नहीं
होता है तब तक उस बीज की निर्जीव अवस्था रहती है। इसलिये
उस बीज में अंकुर पैदा नहीं होता। यदि बीजों में निरन्तर जीव

की उत्पत्ति मानी जावेगी अर्थात् लगातार एक के पीछे एक जीव उत्पन्न होता ही रहेगा और लगातार एक के पीछे एक मरता ही जावेगा तो इस अवस्था में वह बीज निर्जीव नहीं कहलायेगा। यह आगम से विरुद्ध पड़ता है क्योंकि आगम ने बीज को निर्जीव माना है। निर्जीव बीज में जबतक जीव उत्पन्न होने की शक्ति विद्यमान है तब तक ही उसकी बीज संज्ञा है। जब उस बीज में जीव उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो जायेगी तब उस बीज की संज्ञा भी नष्ट हो जावेगी। फिर वह वनस्पति काय कहलाने के योग्य रह जावेगा। यह उपरोक्त गाथा या उसकी टीका का आशय है। न आज तक गेहूँ जौ चना आदि बीजों में निरन्तर जीवों की उत्पत्ति किसी विद्वान् ने मानी है और न ऐसा अनुभव में ही आता है तथा न युक्ति से भी सिद्ध है। अतः ऐसा मानना अज्ञानता है।

गाथा या उस गाथा की उपरोक्त टीका से यह भी सिद्ध हो जाता है कि बीज में एक ही जीव रहता है। इसलिये ऐसा कहा गया है कि जो बीज विषै जीव थावर उस बीज को अपना प्रत्येक शरीर बनाकर तिष्ठै था सो मरणकर निकल गया फिर उस बीज में जलादिक का निमित्त पाकर वही जीव आवे या अन्य जीव आवे। इस कथन से स्पष्ट सिद्ध होजाता है कि एक बीज विषै एक ही जीव की सत्ता मानी है वह बीज चाहे जितना बड़ा क्यों नहो। इसका कारण दूसरा यह भी है कि उस बीज में जब जीव आता है तब उस सब बीज को प्रथम अपना प्रत्येक शरीर बनाता

है फिर अंतर्मुहूर्त बाद निगोदाश्रित होने से सप्रतिष्ठित हो जाता है अतः प्रथम समय से लेकर अंतर्मुहूर्त तक एक बीज में एक ही जीव की सत्ता रहती है। अतएव ब्र॰ भूरामलजी ने जो यह लिखा है कि "वनस्पति के हरएक कण-कण में वनस्पति कायिक एकेन्द्रिय जाति वाले जीव रहते हैं सो मिथ्या है।

यदि कहा जाय कि अंतर्मुहूर्त के बाद ही तो वह सप्रतिष्ठित हो जाता है। अर्थात् अंतर्मुहूर्त के बाद ही सब जगह उसमें निगोद भर जातो है ? इसलिये ब्र० भूरामलजी का कहना ठीक है आगमानुकूल है ? परन्तु ऐसा भी समझना भ्रम है क्योंकि सप्रतिष्ठित के बाद भी तो कालान्तर में वह फिर प्रतिष्ठित हो जाता है। इसलिये ब्र० भूरामलजी ने प्रत्येक वनस्पति का शरीर घनाङ्गुल के असंख्यातवें भाग लिखा है वह सर्वथामिथ्या है क्यों कि आगम में प्रत्येक वनस्पति के दो भेद किये हैं। एक सप्रतिष्ठित प्रत्येक दूसरा अप्रतिष्ठित प्रत्येक। इसमें सप्रतिष्ठित प्रत्येक की उत्कृष्ट अवगाहना घनाङ्गुलके असंख्यातवें भाग है परन्तु अप्रतिष्ठित प्रत्येक की उत्कृष्ट अवगाहना एक हजार योजन की है अर्थात् चार हजार कोस की है तथा जघन्य अवगाहना घनाङ्गुल से पल्य का असंख्यातवां भाग गुणा है इसलिये सब ही वनस्पति की अवगाहना घनाङ्गुल के असंख्यातवें भाग मान लेना मिथ्या है। इसके प्रमाण में गाथा इस प्रकार है।

साहियसहस्समेकं वारं कोसूणमेकमेकं च,
जोयण सहस्स दीग्घं पम्मे वियले महामच्छे ॥

टीका—एकेन्द्रियेषु स्वयंभूरमणद्वीपमध्यवर्त्तीस्वयं प्रभचला परभागस्थितक्षेत्रोत्पन्नपद्मे साधिकसहस्त्रयोजनायामैकयोजन व्यासो-त्कृष्टावगाहो भवति अस्य च व्यासः।

भावार्थ—एकेन्द्रिय विषै स्वयं भूरमण द्वीप के मध्यवर्ती जो स्वयंप्रभ नामा पर्वतताका पहला भाग सम्बन्धी कर्मभूमि रूपक्षेत्र विषैं उपज्या ऐसा जो कमल तीहि विषैं किछु अधिक एक हजार योजन लम्बा एक योजन चौड़ा ऐसी उत्कृष्ट अवगाहना है। अर्थात् कमल गोल है इसलिये गोलाई एक योजन की चौड़ाई है तथा कमल की पाखुरी लम्बी है अतः लंबाई एक हजार योजन से कुछ अधिक है यहां योजन का प्रमाण चार कोस का है। सारांश यह है कि एकेन्द्रिय जीवों में सबसे बड़ी अवगाहना वनस्पतिकायिक जीवों की है। इसके आगे इसी गाथा में और इसकी टीका में दो इन्द्रियादिक जीवों की उत्कृष्ट अवगाहना बतलाई है।

यहां कोई ऐसी वृथा शंका करे कि इस गाथा में और टीका में तो एकेन्द्रिय की उत्कृष्ट अवगाहना बताई है। एकेन्द्रिय एक जीव की नहीं बतलाई इसलिये अनेक जीवों का शरीर मिलकर एक हजार योजन का हो सकता है जैसा कि ब्र० भूरामलजी ने माना है "प्रथम पृष्ठ पर" प्रत्येक वनस्पति के पेड़ में भी प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवका एक का शरीर न होकर वह पेड़ प्रत्येक वनस्पतिकायिक अनेक जीवों के अनेक शरीरों का स्कन्ध है। धन्य है ऐसी समझ रखने वालों को, क्योंकि प्रथम तो अवगाहना जो

बताई जाती है वह एक जीव की ही बताई जाती है न कि अनेक जीवों की मिलाकर बताई जाती है। दूसरी बात यह है कि इस गाथा में या इस गाथा की टीका में ऐसा एक भी शब्द नहीं मिलता है कि जिससे अनेक जीवों के शरीरों का समुदाय मिलकर कमल की हजार योजन अवगाहना हुई है।

तीसरी बात यह है कि इसी गाथा या टीका में दो इन्द्रियादि की अवगाहना का निरूपण किया है उसमें भी जैसा शब्द एक इन्द्रिय की अवगाहना में प्रयोग किया गया है वैसा ही शब्द दो इन्द्रियादिक की अवगारना में प्रयोग किया गया है इसलिये एक इन्द्रिय के कमल की अवगाहना तो अनेक जीवों के शरीरों को मिलाकर मानी जाय और द्वीन्द्रियादिक में एक एक की, यह कहां का न्याय है?

टीका—"द्वींद्रियेषु तत्स्वयंभूरमणसमुद्रवर्तिशंखे द्वादशा योजनायामयोजनपंच चतुर्थं सोत्सेध चतुर्योजनमुख्यव्यासो-त्कृष्टावगाहो भवंति" त्रींद्रियेषु स्वयंभूरमणद्वीपापरभागवर्ति कर्म-भूमिप्रतिबद्धक्षेत्रे रक्तवृश्चिकजीवे योजनत्रिचतुर्भागायाम ३ तदष्ट-मांशव्यास ३ तदर्द्धोत्सेध ३ उत्कृष्टावगाहोऽस्ति, चतुरिंद्रियेषु स्वयंभूरमणद्वीपापरभागकर्मभूमिप्रतिबद्धक्षेत्रवर्तिभ्रमरे एक योजना-याम तत्त्रि चतुर्भागव्यास ३/४ अर्धयोजनोत्सेध १/२ उत्कृष्टाव-गाहोऽस्ति, पंचेन्द्रियेषु स्वयंभूरमण समुद्र मध्यवर्तिमहामत्स्ये सहस्र योजनायाम पंचाशत् योजन व्यासः पंचाशदग्रद्विशतयोजनोत्सेधो-त्कृष्टावगाहोऽस्ति।

इस उपरोक्त टीका में सब जगह एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंत एक से शब्दों का प्रयोग टीकाकार ने किया है। अतः उन्हीं एक से शब्दों का एक जगह तो यह अर्थ करना कि अनेक एकेंद्रिय जीवों के शरीर मिलाकर कमल की अवगाहना हजार योजन की बतलाई है और दूसरी जगह उन्हीं शब्दों का यह अर्थ करना कि द्वींद्रियादिक पंचेद्रिय पर्यंत एक एक जीवके शरीर की अवगाहना बतलाई है सो यह अद्भुत शास्त्रीपना है। यदि टीकाकार को या ग्रंथकार को ऐसा इष्ट होता कि एकेन्द्रिय अनेक जीवों के शरीर समुदाय का कमल रूप पुंज हजार योजन का है तो क्या उनके पास ऐसा कथन करने वाला कोई शब्द नहीं था ? जो सब जगह एक से शब्दों का प्रयोग किया। यदि उनके पास ऐसे अनेक शब्द मौजूद थे तो उन शब्दों का प्रयोग क्यों नहीं किया ? इसलिये मानना होगा कि एक जीव के शरीर की ही अवगाहना का आचार्यों ने वर्णन किया है। अनेक जीवों के शरीरों को मिलाकर नहीं।

चौथी बात यह है कि यदि अनेक जीवों के शरीर समुदायों को मिलाकर ही कमल की अवगाहना मानली जाय तो कमल की अवगाहना एक हजार योजन की ही उत्कृष्ट क्यों ? उसमें और अनेक जीवों का शरीर मिलकर इससे अधिक भी हो सकती है। इसका बाधक कारण क्या है ? अथवा जब जीव में जीव पैदा होता है तब वह जीव बीज को अपना प्रत्येक शरीर बनाकर अन्तर्मुहूर्त

तक जितना बढ़ सकता है उतना बढ़ता है। सुना है वांस उगते ही जमीन के बाहर हाथ सवा हाथ निकल जाता है इसलिये वांस के बीड़े में कोई टट्टी वगैरह करने को भी नहीं बैठता। मतलब यह है कि अन्तर्मुहूर्त तक जितना भी बढ़े, बढ़ता है और अन्तर्मुहूर्त तक अप्रतिष्टित अवस्था में रहता है। उसके बाद सप्रतिष्ठित होता है तो क्या इसके बाद वह जीव अपना अवयव फैलाना बंद कर देता है? या वह प्रतिष्टित जीव उनको आगे नहीं बढ़ने देता। ऐसा कोई आगम प्रमाण है? यदि नहीं है तो फिर ऐसा क्यों माना जाय कि वृक्षादिका पेड़ अनेक जीवों का समुदाय है एक जीव का शरीर नहीं।

पांचवी बात विचारणीय यह है कि आगम में यह बतलाया है कि अप्रतिष्टित प्रत्येक के सहारे सप्रतिष्टित प्रत्येक आकर अपना आश्रय लेते हैं। जब आगे अप्रतिष्टित प्रत्येक का शरीर ही नहीं माना जायगा तो फिर सप्रतिष्टित प्रत्येक किस के सहारे आकर रहेगा? यदि कहा जाय कि प्रथम ही सहारे को जरूरत होती है पीछे वे उनके सहारे ऐसे बढ़ते ही चले जाते हैं तो यह तो बतलाइये कि उनको जलादिक की खुराक जीवित रहने के लिये कौन पहुंचाता है? यदि कहा जाय कि वे सब मिलकर जोर लगाते हैं और जमीन से पानी ले लेते हैं तो क्या ऐसा कोई आगम प्रमाण है? यदि नहीं तो ऐसी मनघड़ंत कल्पना का मूल्य भी क्या है? जिनकी अवगाहना घनाङ्गुल के असंख्यातवें भाग मात्र है उन विचारे जीवों की या उनके शरीर की ऐसी क्व

शक्ति हो सकती है कि वे जमीन से जलको लेकर अपना अस्तित्व कायम रख सकें अथवा अप्रतिष्ठित प्रत्येक को जब सप्रतिष्ठित प्रत्येक आगे बढ़ने से रोक देवे तब वे इनको ऊपर में जल की सप्लाई नहीं होने दे तो वे विचारे क्या करेंगे ? इस अवस्था में यह सप्रतिष्ठित प्रत्येक किस प्रकार अपना अस्तित्व कायम करेंगे। यह स्वाभाविक बात है कि सप्रतिष्ठित प्रत्येक यदि अप्रतिष्ठित प्रत्येक को आगे नहीं बढ़ने देते हैं तो वे अप्रतिष्ठित प्रत्येक सप्रतिष्ठित प्रत्येक को जलकी सप्लाई क्यों करने देगा ?

इसके अतिरिक्त एक बात और भी विचारणीय है कि वृक्षादिक की जड़ें किसकी हैं ? सप्रतिष्ठित प्रत्येक की तो हो नहीं सकती क्यों कि उसने तो अप्रतिष्ठित प्रत्येक के सहारे आकर आश्रय लिया है। इसलिये जो आश्रय प्रदान करता है उसीकी मूल या जड़ें होनी चाहिये। इसमें भी फिर वही अवगाहना वाला प्रश्न पैदा होता है कि अवगाहना घनाङ्गुल के असंख्यातवें भाग न रहकर असंख्यात गुणी अधिक हो जाती है। इस हालत में अवगाहना घनाङ्गुल के असंख्यातवें भाग मानना असिद्ध ठहरता है। यदि ऐसा कहा जाय कि जड़ें भी अनेक सप्रतिष्ठित प्रत्येक जीवों के शरीर समुदाय का समूह है। जैसा ऊपर का भाग है वैसा ही नीचे का भाग है, यह सब प्राकृतिक नियमों के अनुसार सब परस्पर मिलजुल के रहते हैं और परस्पर वे उसका उपकार करते हैं। ऐसा भी मानना मिथ्या है क्योंकि इसके लिये भी कोई आगम

प्रमाण नहीं है। अथवा युक्ति से भी असिद्ध है क्योंकि वैसा
मानने से जैसा वीज है वैसा फल नहीं वनता। क्यों नहीं वनता ?
इसका कारण यह है कि वीज वाले वृक्ष की सत्ता तो घनाङ्गल के
असंख्यातवें भाग में ही रह गई उसके ऊपर में तो अन्य सप्रति-
ष्ठित प्रत्येक जीवों की सत्ता समझी जायगी। इस हालत में वीज
जैसा फल किस प्रकार से सिद्ध होगा ? कदापि नहीं होगा। जव कि
एक वृक्ष को अनेक जीवों के शरीर का स्कंध माना जाता है तव
एक वृक्ष में अनेक तरह के पत्ते फूल फल वगैरह क्यों नहीं लगते।
एक वृक्ष के समूचे पेड़ में एक से पत्ते, एक से फूल एक से फल
और उन सव का एक सा स्वाद क्यों ? इसका कारण या तो यह
कहना पड़ेगा कि एक वृक्ष में मूल मालिक एक जीव है उसके
शरीर का आश्रय अन्य सप्रतिष्ठित प्रत्येक जीव आकर आश्रय
लेते हैं, उन आश्रित जीवों की अवगाहना घनाङ्गल के असंख्यात
वें भाग मात्र ही है, परन्तु अप्रतिष्ठित प्रत्येक वृक्ष का मूल मालिक
जो है उनकी अवगाहना वृक्षादि प्रमाण है तथा आश्रित जीवों
की सत्ता तव तक ही रहती है कि जव तक वृक्ष के मालिक का
शरीर नरम अथवा मुलायम या कोमल कमजोर रहता है। जव
वृक्षादि के पत्ते फल वगैरह कठोर कठिन मजवूत या पक्व अवस्था
को प्राप्त हो जाते हैं तव सप्रतिष्ठित प्रत्येक जीव उनके आश्रय को
त्याग देते हैं अर्थात् मरण को प्राप्त हो जाते हैं और वृक्षादिक के
मूल मालिक जीव के ही उसमें प्रदेश रह जाते हैं।

अथवा अप्रतिष्ठित प्रत्येक का आश्रय जो सप्रतिष्ठित प्रत्येक नें लिया था उन सप्रतिष्ठित प्रत्येक को जव तक उनका आश्रय मिलता रहता है तब तक वे उनके सहारे रहता है। जब किसी कारणवश उनका आश्रय छूट जाता है तव वे निराश्रय होनेसे मरण को प्राप्त हो जाते हैं और वह छिन्न भिन्न हुवा अप्रतिष्ठित प्रत्येक का शरीरांश निर्जीव हो जाता है क्योंकि सप्रतिष्ठित प्रत्येक अप्रतिष्ठित प्रत्येक के,सहारे विना स्वतंत्र या सप्रतिष्ठित प्रत्येक के सहारे सप्रतिष्ठित नहीं रह सकते, ऐसा आगम का कहना है। यदि ऐसे रहते हों तो आगम में वतावें अन्यथा इसको मानें। गोम्मटसार की गाथा और टीका ऊपर दी गई है उसको एक दफे फिर देख लेवें। उसमें साफ लिखा है कि सब वनस्पति प्रथम समय से अन्तमुहूर्त तक अप्रतिष्ठित प्रत्येक ही रहती हैं पीछे अन्तमुहूर्त वाद निगोद जीव जव आश्रय करते हैं तव सप्रतिष्ठित प्रत्येक होते हैं। "प्रथमतायां शरीरग्रहणकाले प्रथमसमये अन्तमुहूर्तमात्रे वा प्रत्येकाः अप्रतिष्ठितप्रत्येका एव पश्चान्निगोदजीवैर्यदा आश्रियंते तदा प्रतिष्ठिता भवंति।

इससे अधिक और क्या स्पष्ट होगा। यह आश्रित जीव तव तक आश्रित रहता है जव तक वृक्षादिक के पत्ते फल वगैरह कच्चे रहते हैं।उसमें सिरा संधि पर्व वगैरह वाह्य में दीखने योग्य प्रगट नहीं होते, गूढ़ रहते हैं। किन्तु जव वृक्ष के पत्ते फल वगैरह पकने पर आजाते हैं तव इससे सिरा संधि वगैरह प्रगट दीखने लग जाते हैं तव उससे आश्रित जीव हट जाते हैं अर्थात् मर जाते हैं।

जब वह पत्ता फलादि सब ही अप्रतिष्ठित प्रत्येक हो जाते हैं अर्थात् वृक्षादिक के मूल शरीरी जीव के ही उसमें प्रदेश रहजाते हैं दूसरे जीव नहीं रहते इसलिये वह पत्ता फलादिक वृक्षादि से अलग होने पर निर्जीव हो जाता है। ऊपर में छिन्न भिन्न की हुई वनस्पति निर्जीव है ऐसा प्रमाण बतलाया गया है उसके साथ इसका समन्वय हो जाता है क्योंकि वृक्षादि से यह भी छिन्न हो जाते हैं।

"गूढ़सिरसंधिपव्वं समभंगमहीरुहं य छिण्णरुहं।
साहारणं शरीरं तव्विवरीयं य पत्तेयं ॥ १८८ ॥

टीका—"यत् प्रत्येकशरीरं गूढ़शिरं अदृश्यवहिः स्नायुकं-गूढ़संधि अदृश्य संधि रेखाबंधं गूढ़पर्वं अदृश्यग्रंथिकं समभंगं त्वग् रहितत्वेन सदृशच्छेदं, अहिरूकं अन्तरंगतसूत्र रहितं, छिन्नं रोहतीति छिन्नरुहं च तच्छरीरं साधारणं सधारणजीवाश्रितत्वेन साधारणमित्युपचर्यते प्रतिष्ठितशरीरमित्यर्थः। तद्विपरीतं गूढ़शिरत्वादिपूर्वोक्तलक्षणरहितं तालनालिकेरतिंतिणीकादिशरीरं अप्रतिष्ठितप्रत्येकशरीरमिति विभागं च शब्दः सूचयति।"

जिस प्रत्येक वनस्पति शरीरका सिरा संधिपर्व गूढ़ होय वाह्य दीखै नाहीं तहां सिरातो लंबी लकीर सी जैसे काकड़ी विषैं होय बहुरि संधि बीच में छेद जैसे दाड़म वा नारंगी विषै हो है। बहुरि पर्व गांठि जैसे सांठा विषै हो है सो कच्ची अवस्था विषैं जाके वाह्य दीखै नांही ऐसा वनस्पति बहुरि समभंग कहिये जाका

टूक ग्रहण कीजिये तो काऊ तातूं लगा न रहे समान बराबरि टूटै ऐसा बहुरि अहिरुहं कहिये जाके विषै सूत सारिखा तांतूं न होय ऐसा बहुरि छिन्नरुहं कहिये जो काट्या हुया उगे ऐसा वनस्पति सो साधारण है। इहां प्रतिष्ठित प्रत्येक साधारण जीव निकरि आश्रित की अपेक्षा उपचारकरि साधारण कहा है बहुरि तद्विपरीतं कहिये पूर्वोक्त गूढ़ सिरा आदि लक्षण रहित नालिकेर, ताल आम्रादि शरीर, अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर जानना। गाथा विषैं जो चकार कह्या है सो इस भेदं को सूचै हैं। इस गाथा का नं० १८८ है किन्तु ब्र० भूरामलजी साहिब ने अपने ट्रैक्ट में २८६ दिया है तथा इस गाथा की टीका में नालिकेर, ताल आम्रादि फलों को अप्रतिष्ठित प्रत्येक बतलाया है उसको आपने उडा ही दिया है। इसका कारण यही हो सकता है कि इसको उद्धृत करने से वनस्पति के प्रत्येक कण २ में वनस्पतिकायिक जीवों की सत्ता बतलाई है वह छू मंतर हो जाती है। अथवा सब वनस्पतिकायिक जीवों की अवगाहना घनाङ्गुल के असंख्यातवें भाग मानी हैं, वह भी नही ठहरती। क्योंकि इस टीका में नारिकेल आदि फलों को अप्रतिष्ठित प्रत्येक बतलाया है जो एक जीवका शरीर सिद्ध होता है।

इसके अतिरिक्त इस उपरोक्त टीका में "यत् प्रत्येक शरीरं" ऐसा जो कहा गया है इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि उस वृक्षादि प्रत्येक वनस्पति का शरीर का सिरा, संधि, पर्व वगैरह गूढ़ होय बाह्य नहीं दीखै और तोड़ने पर उसका समभंग हो जाय अथवा काटी

हुई भी ऊगे उसको साधारणजीवनि करि आश्रित की अपेक्षा सप्रतिष्ठित प्रत्येक को साधारण कहा है। "तद्विपरीत" इसके विपरीत सिरा संधि पर्व प्रगट पने दीखें, समभंग न होय, काटा न ऊगे ऐसा या इन कर रहित होय उस प्रत्येक को ही अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं क्योंकि वह प्रत्येक वनस्पति सप्रतिष्ठित जीवों के आश्रित होने से सप्रतिष्ठित कहलाती थी सो अब वह सप्रतिष्ठित वहां से हट जाते हैं तब उसकी अप्रतिष्ठित प्रत्येक संज्ञा हो जाती है। और भी विशेष खुलासा गाथा सं० १८८/१९० ब्रह्मचारीजी ने अपने ट्रेक्ट में नं० २८७–२८८ दिया है—

"मूले कंदे छल्ली पवालसालदलकुसुमफलबीजे।
समभंगे सदि णंता असमे सदि होंति पत्तेया ॥१८९॥
कंदस्स व मूलस्स व साला खंदस्स वा वि बहुलतरा।
छल्ली साणंतजिया पत्तेयजिया तु तणु कदरी ॥१९०॥

टीका—"एषां प्रत्येक वनस्पतीनां मूलं कंदः त्वक् प्रवालः नवपल्लवः शालाः क्षुद्र शाखा, दलं पत्रं कुसुमं, फलं बीजं, च समभंगं भवेत् हीरुकं विना भज्येत तथा सति ते जीवाः अनन्तै निगोदैराश्रिताः प्रतिष्ठिता इत्यर्थः येषां मूलादिः समभंगो न भवति तथा सति ते जीवाः अप्रतिष्ठित प्रत्येकाः भवंति १८९॥ येषां प्रत्येक वनस्पतीनां कंदस्य वा मूलस्य वा शालाया वा स्कंधस्यापि वा त्वक् बहुलतरा स्थूलतराः भवति ते सानंतजीवाः अनन्तजीवैर्निगोद जीवैःसहिताः प्रत्येकाः इत्यर्थः तु पुनः येषां कंदादीनां त्वक् तनुतरा अत्यल्पा ते अप्रतिष्ठितप्रत्येकजीवा भवन्ति ॥१९०॥

उपरोक्त दोनों ही टीकाओं में "येषां प्रत्येक वनस्पतीनां" ऐसा पद दिया है अर्थात् वह कंद मूल वृक्षादि प्रत्येक बनस्पति हैं। जिसके साथ प्रतिष्ठित प्रत्येक बनस्पति अनंत निगोद सहित आकर आश्रित होती है तब वह प्रत्येक बनस्पति प्रतिष्ठित कहलाती है। जब प्रत्येक वनस्पति के साथ प्रतिष्ठित प्रत्येक का सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है तब वह प्रत्येक बनस्पति अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहलाती है उसकी पहिचान के लिये ग्रंथकार कहते हैं कि "मूल कहिये जड़, कंद कहिये पेड़, छल्ली कहिये छाल, प्रवाल कहिये कौंपल, (अंकुरा) शाला कहिये छोटी डाली, शाखा कहिये बड़ी डाली, दल कहिये पान, कुसुम कहिये फूल, फल कहिये फल, बीज कहिये जातै फेरि उपजै सो बीज सो ये समभंग होइ तो अनंत कहिये अनंतकाय रूप प्रतिष्ठित प्रत्येक हैं।

बहुरि जो मूल आदि बनस्पति समभंग न होय सो अप्रतिष्ठित प्रत्येक हैं। जीहिं बनस्पति का मूलकंद छाल इत्यादिक समभंग होय तो प्रतिष्ठित प्रत्येक है अरु जाका समभंग न होई सो अप्रतिष्ठित प्रत्येक है। तोड्या थका तांतू कोई लग्या न रहैं बराबरि टूटे सो समभंग है ॥१८६॥ जिस वनस्पति का कंद वा मूलकी वा क्षुद्र शाखा की वा स्कंध की छाली मोटी होई सो अनंत काय है निगोद जीव सहित प्रतिष्ठित प्रत्येक हैं। बहुरि जिस वनस्पति का कंदादिक की छालि पतली होई सो अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति का जो शरीर बादर निगोद जीवनिकरि आश्रित व संयुक्त है तो वह शरीर प्रतिष्ठित है अरु जो शरीर बादर

निगोद के आश्रय से रहित है तो वह शरीर अप्रतिष्ठित प्रत्येक है ऐसा ग्रंथकार का कहना है।

उदये दु वणप्फदि कम्मस्स य जीवा वणप्फदी होंति।
पत्तेयं सामण्णं पदिट्ठिदिदरत्ति पत्तेयं ॥१८५॥

टीका:—वनस्पतिविशिष्टस्थावरनाम कर्मोत्तरप्रकृत्युदये तु पुनः जीवा वनस्पति कायिका भवंति। ते च प्रत्येकशरीराः सामान्य शरीरा इति द्विविधा भवंति। एकं प्रतिनियतं प्रत्येकं एक जीवस्य एक शरीर मित्यर्थः प्रत्येकं शरीरं येषां ते प्रत्येक शरीराः समानमेव सामान्यं सामान्यं शरीरं येषां ते सामान्य शरीराः साधारणशरीरा इत्यर्थः। तत्र प्रत्येक शरीराः प्रतिष्ठिता प्रतिष्ठित भेदाद् द्विविधाः इति शब्दोऽत्र प्रकार वाची बादर निगोदैराश्रिताः प्रतिष्ठिताः तैरनाश्रिताः अप्रतिष्ठिताः इति तयोर्भेदावगमनात्।

वनस्पति रूपविशेष को धरैं स्थावर नामकर्म की उत्तर प्रकृति के उदय हौंते जीव वनस्पति कायिक होय हैं वे दो प्रकार हैं। एक प्रत्येक शरीर एक सामान्य कहिये साधारण शरीर। वहां एक एक प्रति नियम रूप होय एक जीव प्रति एक शरीर होय सो प्रत्येक शरीर है। प्रत्येक हैं शरीर जिनका वे प्रत्येक शरीर जानने। बहुरि समान का भाव सो सामान्य। सामान्य है शरीर जिनका ते सामान्य शरीर जीव हैं। भावार्थः—बहुत जीवनिका एक ही जीव शरीर साधारण समान रूप होय सो साधारण शरीर कहिये। ऐसा शरीर जिनके ते साधारण शरीर जानने। तहां प्रत्येक शरीर के दो भेद एक

प्रतिष्ठित, एक अप्रतिष्ठित। इहां गाथा विषै इति शब्द प्रकार वाची जानना। तहां प्रत्येक वनस्पति के शरीर बादर निगोद जीवनि करि आश्रित संयुक्त होय ते प्रतिष्ठित जानने। जे बादर निगोद के आश्रय रहित होंय ते अप्रतिष्ठित जानने। यहां ग्रंथकार स्पष्ट शब्दों में यह कह रहे हैं कि प्रत्येक वनस्पति का जो शरीर बादर निगोदाश्रित है वह शरीर सप्रतिष्ठित है और जो शरीर बादर निगोदाश्रित कर रहित है वह शरीर अप्रतिष्ठित है। अर्थात् जैसे आम के पेड़ को ही ले लीजिये। समूचे आम के पेड़ में पेड़ के जिस अंग में बादर निगोद आश्रित हैं और उपरोक्त सम भंगादि लक्षण उस अंग में घटित होता है तो वह अंग सप्रतिष्ठित प्रत्येक है तथा जिस अंग में बादर निगोद आश्रित नहीं हैं तथा वह अंग समभंगादि भी नहीं होता है तो वह अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहलाता है। अथवा यों समझिये कि सप्रतिष्ठित जीव उस पेड़ के आश्रित रहने वाले हैं किन्तु इस पेड़ के वे मालिक नहीं हैं इसलिये ही आचार्यों ने जगह २ आश्रित शब्दों में सप्रतिष्ठित प्रत्येक जीवों को प्रत्येक के आश्रित घोषित किया है किन्तु उनको उस पेड़ का मालिक बोलकर कहीं पर भी घोषित नहीं किया गया है अतः वे सप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीरी जीव उस पेड़ के मालिक हैं ऐसा मानना भ्रम है। यद्यपि वे सप्रतिष्ठित प्रत्येक जीव जबतक उस पेड़ के जिस अंग में अपना शरीर रूपी घर बनाकर रहते हैं तब तक उस पेड़ के जिस भाग में वे रहते हैं कथंचित् उस अंशका उसको मालिक भी कह दिया जा सकता है। जैसे शरणार्थी लोग

दूसरे मालिक के मकान में मालिक होकर ही रहते हैं तथापि जिसमें शरणार्थी लोग रहते हैं वह मकान उनका नहीं कहा जायगा उस मकान का मालिक दूसरा ही है इसी प्रकार समझ लेना चाहिये। यही आचार्यों का कहना है स्व० पं० टोडरमलजी साहिब पुरुपार्थसिद्ध्युपाय की टीका करते हुये लिखते हैं कि :—

"प्रत्येक के भी दो भेद हैं सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक। सप्रतिष्ठित प्रत्येक उसको कहते हैं कि जिस शरीर का स्वामी एक हो और उस शरीर के आश्रित अनंत जीव रहते हों तथा अप्रतिष्ठित प्रत्येक उसे कहते हैं कि जिस शरीर का मूल मूल स्वामी एक हो और उसके आश्रित अनन्त जीव न रहते हों। साधारण वनस्पति का लक्षण जिसके तोड़ने पर समान भंग हो जाय जिनके पत्तों में जबतक रेखायें नसाजाल नहीं निकला हो तथा जिनका कंद मूल छाल पत्ता टहनी फूल फल बीज इन सबे में जब तक तोड़ने पर समान भंग हो जाय तब तक वे सब साधारण वनस्पति हैं और जब वे समान भंग की स्थिति में न हो तब वही वनस्पति प्रत्येक हो जाती है। यद्यपि साधारण वनस्पति और सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति इन दोनों में अनंत जीव हैं तथापि साधारण वनस्पति के शरीर में जितने जीव हैं वे सब ही उस शरीर के स्वामी हैं और उस वनस्पति के तोड़ने पर काटने पर उन सब जीवों का घात होता है और सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति में एक शरीर में स्वामी तो शरीर का एक ही है किन्तु उस शरीर के आश्रित अनंत जीव हैं वे सब स्वामी नहीं हैं।

और शरीर के स्वामी के मरने जीने से उन सब जीवों के मरने जीने का कोई संबंध नहीं है। बस यही दोनों में भेद हैं। इसलिये गृहस्थ श्रावक को साधारण बनस्पति का सर्वथा ही त्याग करना चाहिये। एवं सप्रतिष्ठित प्रत्येक का भी त्याग करना चाहिये "इससे और अधिक क्या खुलासा होगा। श्री टोडरमलजी साहिब ने साफ शब्दों में घोषित कर दिया है कि सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति में एक शरीर में स्वामी तो शरीर का एक ही है किन्तु उस शरीर के आश्रित अनंत जीव हैं वे सब स्वामी नहीं है। जो सज्जन स्वामी मानते हैं उनको उपरोक्त कथन को अच्छी तरह समझकर गले उतार लेना चाहिये और अपनी भूल का प्रायश्चित्त करलेना चाहिये।

यहाँ ऊपर के कथन से एक बात और भी अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये कि इस में मूल, कंद, पत्ता, छाल, टहनी फूल फल बीज का उल्लेख किया गया है वह वृक्ष और लता से सम्बन्ध रखता है-अर्थात् मूल मतलब जड़का है और कंद मतलब पेड़ का है और आगे उसी के सम्बन्ध में उसकी छाल पत्ता टहनी फूल फल और फल में बीज इस तरह इन सब का एक वृक्ष या लता का सम्बंध समझना चाहिये क्योंकि यही सब चीजें सप्रतिष्ठित होकर अप्रतिष्ठित हो जाती है सो ही उपर में अच्छी तरह बतलाया गया है गाथा नं० १८६ की टीका में एक दफे और देख लेवें। यद्यपि कंद मूल से अद्रक हलदी, पिंडालु सूरणादि का भी ग्रहण हो जाता है तथापि वे हमेशा साधारण वनस्पति रूप ही

रहते हैं जब इनको तोड़ो तब इनका समभंग ही होगा अतः हल्दी तथा अद्रक के सिवाय और सब शुष्क होने पर या सिजाने पर भी ग्राह्य नहीं है क्योंकि जिस प्रकार हल्दी और सूंठ शुष्क अनाज की तरह उसका आटा या चूर्ण हो जाता है उस प्रकार अन्य कंद मूलादि का नहीं होता इसलिये हल्दी और सूंठ सूखी ग्रहण करने के योग्य हैं ऐसा आचार्यों ने प्रतिपादन किया है किन्तु अन्य कंद मूलादि को किसी भी हालत में ग्रहण करने योग्य नहीं माना है प्रमाण के लिये षटप्राभृत की टीका के अनुसार ही स्व० पं० टोडरमलजी साहिब ने यह बतलाया है कि "इसलिये गृहस्थ श्रावक को साधारण वनस्पति का सर्वथा त्यागकर देना चाहिये तथा सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति का भी त्याग कर देना चाहिये"।

इस सम्बन्ध में मैं ऊपर बतला चुका हूँ कि ऐसी चीजों का ग्रहण जैनी मात्र नहीं करता है जिसमें अनन्त जीवों का घात हो। परन्तु ब्र० भूरामलजी ने आगम विरूद्ध क्या समझकर कंदमूलादि को उबालकर खानेका व्रतियों के लिये विधान बतलाया है और अव्रतियों के लिये सब जीव मात्र के खाने का निषेध किया है। बलिहारी है—इस अद्भुत सूझकी—व्रती सचित्तत्यागी प्रतिमा वाला तो अनंत काय को उबालकर खाय और अव्रती अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति का भी त्याग करें यह कैसा न्याय है जो विवेकी पुरुष है वह इस बात को कब स्वीकार करेगा अर्थात् कभी नहीं करेगा क्योंकि यह बात आगम से तो असिद्ध है ही किन्तु युक्ति से भी असिद्ध है।

इस सम्बन्ध में बाबाजी ने प्रथम तो ऊटपटांग बहुत सी शंकायें उठाकर मनचाहा समाधान किया है। समाधान के बाद शेष में यह सारांश निकाला है कि "इसलिये आर्हतमतानुयायी कितने ही विचारशील महानुभाव तो आजन्म सब्जी मात्र के त्यागी होते हैं शेष लोग भी अष्टमी चतुर्दशी पर्व तिथियों में तो अवश्य ही किसी प्रकार की सब्जी काम में नहीं लाते न स्वयं खाते और न दूसरों को खिलाते हैं केवल ताजी दाल रोटी ही बनाकर खाते हैं और संयम से दिन बिताते है उस दिन सब्जी का तरासना वगैरह भी नहीं करते लेकिन हां जिनको सचित्त खाने मात्र ही का त्याग है वे लोग उसे उबालकर खा सकते हैं। "ट्रैक्ट के पेज नं० १२ में इस कथन के ऊपर में एक सागारधर्मामृत की कारिका उद्धृत की है। वह कारिका इस प्रकार है :—

"पादेनापि स्पृशन्नर्थवशाद्योऽति ऋतीयते।
हरितान्याश्रितानन्त निगोतानि सभोच्यते॥

यह श्लोक सचित त्याग प्रतिमा वाले के सम्बन्ध में है इसका अर्थ स्व० पं० देवकीनंदन जी सिद्धांतशास्त्री ने इस प्रकार किया है। पांचवी प्रतिमाधारी श्रावक अनंत निगोद के आश्रयवाली सचित्त वनस्पति को प्रयोजनवश यदि पैर से भी छूले तो पाक्षिक श्रावक की अपेक्षा अनन्त दुखी होता है तो फिर क्या वह इन वनस्पतियों का भक्षण करसकता है? कभी नहीं कर सकता है किन्तु भक्षण करने से ग्लानि करता है "कारिका से तो यह स्पष्ट हो जाता है कि

अनंतकायिक वनस्पति को व्रती श्रावक कभी भी नहीं खा सकता है क्योंकि वे अनन्तकायिक वनस्पति के छूलेने पर भी महादुखी होता है तो उसको अनंतकाय का घातकर किस प्रकार खायगा अर्थात् किसी भी हालत में नहीं खायगा ऐसी वस्तुओं का तो इसके पहले ही त्याग हो जाता है कंद मूलादि वनस्पतियों को सचित्त त्यागीव्रती खावे यह असम्भव बात है अतः ब्र० भूरामल जी का यह कहना कि सचित्तत्यागी व्रती कंद मूलादि को सिजाकर खा सकता है यह सर्वथा मिथ्या है क्योंकि व्रत प्रतिमा में भी ऐसी वस्तुओं का सर्वथा त्याग हो जाता है। सागारधर्मामृत अध्याय ५ श्लोक १६ इस प्रकार है:—

"नालीसूरणकालिन्दद्रोण पुष्पादि वर्जयेत्।
आजन्म तद्भुजां ह्यल्पं फलं घातश्चभूयसाम्" ॥

भावार्थः—आजन्म के लिये नाली, सूरण, तरबूज, द्रोण, पुष्पादि (आदि शब्द से ऐसे अनन्तकायिक, कंदमूल, अदरक वगैरह तथा नीम के फूल, केतकी के फूल, वगैरह का ग्रहण कर लेना चाहिये) का त्याग करें क्यों कि इनके भक्षण से क्षणभर के लिये जिह्वा के स्वाद की पूर्ति होती है और खाने वाले के निमित्त से अनंत जीवोंका घात होता है। इसलिये :—

अनन्तकायाः सर्वेऽपि सदा हेया दयाः परैः।
यदे कमपि तं हन्तु प्रवृतो हन्त्यनन्त कान ॥१७॥

अर्थात् दयाशील श्रावकों को सर्वदा के लिये सब ही अनन्त कायवाली वनस्पति को त्याग देनी चाहिये क्योंकि जो एक भी अनन्तकाय वनस्पति की हिंसा के लिये प्रवृत्त होता है वह अनंत जीवों का वध करता है। यह स्व० पं० आशाधरजी का कहना है। ऐसा ही स्वामी समंतभद्रजी का कहना है। भोगोपभोग परिमाण व्रत के विधान में भोगोपभोग व्रत पाक्षिक श्रावक भी शील रूप से पालन करता है अतः उनके भी ऐसी वस्तुओं का त्याग होता है जिसके सेवन करने में अनन्तकायिक जीवों का घात होता है।

अल्पफल बहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि।
नवनीतनिम्बकुसुमं, कैतकमित्येव मवहेयम् ॥

भावार्थः—जिसमें थोड़ा फल अर्थात् जिह्वा के स्वाद मात्रका फल और बहुत जीवों का घात हो ऐसे सचित्त पदार्थ अदरक, मूली गाजर वगैरह तथा मक्खन, नीम के पुष्प, केतकी के फूल वगैरह वस्तुयें त्यागने योग्य हैं क्योंकि ये वस्तुये हेय हैं इनके सेवन में बहुत जीवों का घात होता है। ऐसा ही सर्व आचार्योंका मत है जो कंद मूलादि का भक्षण करता है वह व्रती तो क्या जैनी कहलाने के योग्य भी नहीं रहता इसलिये ऐसे घरों में मुनि आहार के लिये भी नहीं जाते जिनके घरों में कन्द मूलादि पकाये जाते हैं उन घरों को अजैन के घर समझकर त्याग देते हैं। शास्त्रों में ऐसा कथन मिलता है फिर ऐसे पदार्थों का व्रती सेवन करे यह असम्भव बात है।

ब्र० भूरामलजी ने एक बात यह भी लिखी है कि "आर्हत मतानुयायी कितने ही विचारशील महानुभाव तो आजन्म सब्जी मात्र के त्यागी होते हैं शेष लोग भी अष्टमी और चतुर्दशी जैसी पर्व तिथियों में तो अवश्य ही किसी भी प्रकार की सब्जी को उपयोग में नहीं लाते। न स्वयं खाते हैं और न दूसरों को खिलाते हैं उस दिन सब्जी का तरासना उबालना वगैरह भी नहीं करते" यह सब कथन कपोल कल्पित है, आगम से सर्वथा विरुद्ध है और स्ववचनबाधित है। क्योंकि सचित्त त्यागी तो अनन्तकायिक वनस्पतियों को हर एक पर्व के दिनों में भी तरासें और उबालकर खावें तथा अव्रती श्रावक (पाक्षिक श्रावक) पर्व के दिनों में अप्रतिष्ठित प्रत्येक को भी न तरासें और न उबालें यह स्ववचन बाधित कथन है। आगम विरुद्ध यों है कि मुनि महाराज तो अवश्य कर पर्व के दिनों में छहो रसों का और अन्न का त्याग करके केवल सब्जी मात्र का आहार ग्रहण करें तथा आर्यिका भी ऋतु के समय यदि निराहार न रह सकें तो केवल सब्जी मात्र का ग्रहण करें और उत्तम पाक्षिक श्रावक आजन्म सब्जी मात्र का त्याग करें न आप खाय और न दूसरों को खिलावें तथा शेष पाक्षिक श्रावक कम से कम पर्व के दिनों में तो सब्जी के खाने का तरासने का, उबालने का त्याग करें तो बताइये मुनिराजों को या आर्यिकाओं को पर्व के दिनों में सब्जी का आहार क्या देवता आकर देंगे? या उस दिन भूखों मरेंगे? मानलो षोडशकारण पर्व एक मास का होता है और एक मास के लिये मुनिराज छहों

रसों का तथा अन्न का त्याग करदें तो इस हालत में क्या उपाय होगा। पाक्षिक श्रावक तो उनको सब्जी खिलायेगा नहीं और मुनिराज सिवाय सब्जी के दूसरा कुछ भी आहार ग्रहण करेंगे नहीं इस गहन अवस्था में धर्म की महान् हानि हो जायगी क्योंकि श्रावक तो पात्रदान के पुण्य से बंचित रहेगा वे तो अपनी मूर्खता से पात्र दान को तुच्छ समझकर उसकी अवहेलना करता है और सब्जी के त्याग को महत्व देता है जो आगम विरुद्ध है क्योंकि सब्जी के त्याग का आगम में कहीं पर भी विधान नहीं मिलता है।

ऐसी कथायें तो बहुत सी मिलती हैं कि पर्व के दिनों में या व्रत के दिनों में केवल सब्जी खाकर रहना परन्तु ऐसा कथन कहीं पर भी नहीं मिलता कि पर्व के दिनों में सब्जी नहीं खानी चाहिये या पाक्षिक श्रावकों को सर्वथा सब्जी का आजन्म त्याग कर देना चाहिये और व्रत धारण करने के बाद अनन्तकाय को भी उवाल कर खा लेना चाहिये। यह हानि तो श्रावकों के लिये हुई मुनिराजों को भी या तो प्रतिज्ञा भंग करनी पड़ेगी या भूखों मरना पड़ेगा अथवा उनको ऐसी प्रतिज्ञा ही नहीं करनी चाहिये जो गृहस्थों के प्रतिकूल हो। इस हालत में उनको रसपरित्यागादि व्रत भी पालन करने में स्वाधीनता न रहेगी। गृहस्थों के पीछे २ उनको चलना होगा। अतः उनकी सिंहवृत्ती न रहेगी यह महान् हानि मुनिराजों को उठानी होगी।

इसके अतिरिक्त सिद्धचक्रादि विधान भी किसी को करने की आवश्यकता न रहेगी क्योंकि सिद्धचक्र व्रत के विधान में अष्टाह्निका के पर्व में चतुर्दशी पर्व के दिन में त्रिवेलीका शाक और भात खाने का विधान है उस दिन के व्रत का फल भी एक लक्ष उपवास का बतलाया है।

क्या यह आचार्यों ने असत्य लिखा है? जो अष्टाह्निका जैसे पर्व में और उस पर्व में भी चतुर्दशी के दिन तीन वेल का शाक खाने का विधान कर दिया है! क्या यह घोर अन्याय किया? आपके मतके अनुसार तो ऐसे विधान के विधाताओं को सीधे नरक जाना चाहिये क्योंकि पर्व के दिनों में चतुर्दशी के दिन हरी खाने का विधान करें और उसको व्रत बतावें तिस पर भी तुर्रा यह है कि ऐसे व्रत करने वालों को एक लक्ष उपवास का फल होगा। यदि यह आचार्यों की गलती नहीं है तो मानना पडेगा कि ब्र० भूरामलजी का कहना आगम विरुद्ध है। यदि ऐसा कहो कि उसदिन सूखा तीन वेली का शाक खालेगा।

गीली न खाये क्योंकि वहां पर तो गीला या सूखा कुछ नहीं लिखा है। वहां तो केवल यह लिखा है कि उस दिन त्रिवेलीका शाक और भात खावे अतः उस दिन सूखा त्रिवेलीका शाक और भात खाकर व्रतकी विधिका पालन कर लिया जाय परन्तु ऐसा करना भी असंगत है क्योंकि प्रथम तो शाक भाजी संज्ञा ही गीली वनस्पति की है। वर्तमान में जो वनस्पति को सुखाकर खाने की प्रथा चल पड़ी है वह श्वे० तेरापंथी (ढूंढियों) की देखा देखी

है। दूसरी बात यह भी है कि यदि आचार्यों को गीली वनस्पति खिलाना इष्ट न होता तो वे 'सूखी त्रिवेलीका शाक बतलाने के लिये त्रिवेली के 'शुष्क' विशेषण और लगा देते? क्या उनके पास शब्दों की कमी थी? तीसरी बात यह है कि सुखाकर खाने में गृध्रता अधिक होती है। आरंभ भी ज्यादा करना पड़ता है। राग भाव की भी विशेषता होगी जो पहले बतलाया जाचुका है। चौथी बात यह भी खास है कि यदि व्रत करने के भाव उसी दिन या एक दो दिन पहले भी उपदेशादि के मिलने पर हुए तो उस वनस्पति को कैसे सूखावेगा। सुखने की प्रतीक्षा में व्रतका समय ही नष्ट होजायगा। यहां इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति को सुखाकर खाने की अपेक्षा असली हालत में खालेनाही उचित है। सुखाकर खाने में पाप लगेगा और वैसी हालत में खाने में पाप का कार्य नहीं।

सुखाकर खानेवाले को वे मौसम में भी उस पदार्थ के सेवन करने की लालसा बनी रहती है, इसीलिए तो वह सुखाता है। वनस्पति को छिन्न भिन्नादि करने पर (यदि उसके अनुसार उसमें जीवराशि है) उस जीवराशि के नष्ट करने का पाप उसे लग ही जायगा साथ में उस पदार्थ के सेवन के प्रति विशिष्ट राग से भावहिंसा भी होजायगी। इस प्रकार सुखाकर खाने वाला द्रव्यहिंसा और भाव हिंसा दोनोंका अपराधी ठहर जाता है। जैसे आम, मौसम में खाने वाला किसी भी दिन जिस दिन कि उपवास नहीं है, खालेगा। मौसम जाने के बाद उसमें लालसा नहीं रहेगी, फिर मौसम आने

पर खालेगा परन्तु जिसकी आम खाने में लालसा है वह मौसम के वाद भी अपनी लालसाको पूर्ण करने के लिए आमके रसका पापड़ वनावेगा और वे मौसम भी खावेगा। उन पापड़ों को प्रति समय संभालने में विशेष राग रहेगा। उलन कुलन आने पर जानवर पड़जाने पर साफ करेगा इन सव कामों से द्रव्य हिंसा तथा भाव हिंसा भी होती है इसलिए अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति (आम, नीवू, नारंगी) जो कि वृक्ष से अलग होजाने पर निर्जीव होजाते हैं, के किसी भी अनुपवास के दिन खाने में दोष नहीं है। वहुत से अपने को धर्मात्मा समझने वाले अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्व दिनों में तथा कथित वनस्पति तो नहीं खाते किन्तु सूखी या सुखाकर खाते हैं। चना मोठ आदिको भिगोकर अंकुर निकल आने पर जव कि वे अनंतकाय होजाते हैं उनको छौंककर खाते हैं। और तो क्या ? नीवूके रस से पर्वके अलावा दिनों में कपड़े को तर कर उस कपड़े को सुखा देते हैं और पर्व के दिनों में उस कपड़े को पानी में भिगोकर उस पानी से नीवूकी खटाईका आनंद लेते हैं ये सव मूर्खताएं दिगंवर जैन समाज में चल रही हैं जिनसे दर्शन और चारित्र दोनों मलिन हो रहे हैं।

अज्ञ समाज में ही नहीं किन्तु भूरामलजी शास्त्री सरीखे लोगों में चिरंतन प्रवृत्ति से ऐसी धारणा वैठी हुई है कि वृक्ष से टूटने पर कालपक पालपक दशा में भी फल पत्र में अनेक जीव राशि रहती है हालांकि युक्ति और प्रमाण से वह सर्वथा निर्जीव है, उनका उपयोग पर्व के दिनों में नहीं करते। क्या विना पर्व के

दिनों में दयाप्रधान जैनधर्मीको सजीव राशि पदार्थ का खाना उचित है? तो भी पर्व अपर्वका भेद डालकर अपर्व दिनों में हिंसक बनने का अपने ऊपर मिथ्या आरोप ही नहीं लादा जारहा है किन्तु निर्जीव पदार्थ को सजीव मानकर मिथ्यात्व दोप से भी अपने को दूषित किया जाता है।

पर्व के दिनों में वैसी वनस्पति खाने से अन्य पदार्थों के खाने की अपेक्षा बहुत कुछ इन्द्रिय संयम और प्राणसंयम पलता है। वैसी वनस्पतिका भोजन सात्विक और हलका होता है। पेट भरता नहीं। जैसे घी मीठा आदि खाने से प्रमाद होता है उतना उससे होता नहीं, निद्रा आती नहीं, आलस्य आता नहीं, ध्यानाध्ययन में वाधा आती नहीं। परन्तु आश्चर्य है कि पर्वके दिनों में निर्जीव और सात्विक भोजन को तो छोड़ा जाता है और दूध घी आदि से युक्त अन्नादि पदार्थों को खाया जाता है, यह सब अज्ञानता एवं रूढ़ियों के प्रभावका फल है।

यह कितनी आश्चर्यकारक बात है कि साधु मुनिराज तो पर्व के दिनों में उक्त वनस्पति खाते हैं परन्तु भोले गृहस्थ नहीं खाते। हालांकि जब साधु खाते हैं तो गृहस्थ उसे छीलते हैं, काटते हैं, सभी कुछ करते हैं, छिलका फैंकते हैं। साधुके न आने पर परिणाम कलुषित होते हैं कि मैं तो आम नारंगी भी लाया और साधु आये भी नहीं जिससे पाप बंध भी संभव है। जब उस वक्त वनस्पति के कण कण में जीवराशि व्याप्त है तो क्या

मुनि हिंसक नहीं ठहरेंगे ? और भगवान् ऋषभदेव भी इक्षुरस के आहार के कारण पापी हिंसक नहीं ठहरते ?

यहाँ पर इतना और विशेष समझ लेना चाहिये वृक्षादि से अलग होने पर फलादि सब वस्तुयें निर्जीव होजाती हैं जब तक मूल शरीर के आश्रित फलादिक हैं तब तक वह सजीव हैं क्योंकि वह मूल शरीर का ही अवयव है जब तक वह फलादिक अपक्व अवस्था में है तब तक उसके आश्रित अनन्त जीव हैं जब वे फलादिक पक्व अवस्था में आजाते हैं तब आश्रित जीव निकल जाते हैं और मूल शरीरी जीव के प्रदेश ही उस फलादिक में रह जाते हैं अतः वह फलादिक वृक्षादि से अलग होने पर उसमें मूलशरीरी जीवका प्रदेश था वह खिंचकर संकुचित होजाता है और फलादिक निर्जीव होजाता है यह व्यवस्था तो अप्रतिष्ठित प्रत्येक की है और सप्रतिष्ठित प्रत्येक की भी अवस्था वृक्षादि से अलग होने पर निर्जीव हो जाती है इसका कारण यह है कि उस फलादिक में आश्रयदाता ही न रहातो वे आश्रित जीव किसके आश्रय पर रहें ? अर्थात् न रहें; जिस समय वृक्षादि से फलादिक अलग होते हैं उसी समय से फलादिक कुम्हलाने लग जाते हैं यदि सजीव रहते तो न कुम्हलाते इसलिये सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति भी वृक्षादि से अलग होने पर निर्जीव हो जाती है इसलिये ही त्यागी तपस्वी लोग पर्वादिक के दिनों में गीली साक सब्जीका ही आहार कर रह जाते हैं यह हलका पदार्थ है आलस्य उत्पन्न नहीं करता। दो सेर तक वनस्पति खाने पर भी पेट नहीं

भरता किन्तु अन्न पाव भर खाने पर पेट भर जाता है। अन्न आलस्य उत्पन्न करता है इस कारण अन्न की अपेक्षा सब्जी को हल्का पदार्थ समझकर त्यागी-लोग ग्रहण करते हैं तथा श्रावक लोग भी जब विशेष संयम धारण कर लेते हैं तब फलादिक ही खाकर रहते हैं। 'यशस्तिलक चम्पू' में भी ऐसा ही बताया है। तथा ब्रह्मचारी लोग भी अन्न का भोजन एकबार ही करते हैं जरूरत होने पर दूसरीबार फलाहार थोड़ा बहुत कर लेते हैं किन्तु अन्नका आहार दुबारा नहीं करते। यदि फलाहार की अपेक्षा अन्न संयमधारक होता या फलाहार में पाप विशेष होता तो फलाहार न करके अन्नका ही आहार ग्रहण करलेते। इसलिये मानना होगा कि सब्जी का आहार सब समय उपादेय है। बीमारी के समय भी फलाहार अमृत का काम करता है किन्तु अन्न बीमारी में जहर का भी काम कर जाता है अतएव अन्न की अपेक्षा भी हर हालत में सब्जी का आहार सात्विक आहार है।

यहाँ पर एक शंका हो सकती है कि भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचारों में सचित्त, सचित्त सम्बन्ध, और सचित्त संमिश्रित, ये सचित्त सम्बन्धी तीन अतिचार माने गये हैं। यदि वृक्षादि से अलग हुये फलादिक निर्जीव हैं तो यह अतिचार किस प्रकार बन सकते हैं? इसलिये मानना पड़ेगा कि वृक्षादि से अलग हुये फलादि भी सचित्त अवस्था में रहते हैं। इस शंका के समाधान में आचार्यों ने सचित्त तीन प्रकार का माना है सजीव सचित्त, योनि भूत सचित्त और त्यागी हुई वस्तु का ग्रहण हो जाना सचित्त।

जो जीव सहित सचित्त है, उसको तो जैनी मात्र ही नहीं खाता। योनिभूत सचित्त पाक्षिक श्रावक से लेकर चौथी प्रतिमा तक खा सकता है तथा त्यागी हुई वस्तु रूपी सचित्त के ग्रहण का दोष छठे गुण स्थान वर्ती साधुओं तक के लग जाता है। ये अतिचार यद्यपि भोगोपभोग प्रमाण व्रत के ही हैं तथापि भोग और उपभोग की वस्तुओं का सम्बन्ध मुनिराजों तक भी रहता है इसलिये वे भी रस परित्यागादि हमेशह करते ही रहते हैं अतः उनके भी त्यागी हुई वस्तु का भूल से ग्रहण होजाना संभव है। वह त्यागी हुई वस्तु यद्यपि अचित्त है तथापि उस वस्तु को ग्रहण करने वाला सचित्त है। इस दृष्टि से अचित्त को भी सचित्त कह दिया जाता है। यह व्यवहार नय का विषय है जैसे व्यवहार नय की अपेक्षा मिट्टी के घड़े को भी घी के सम्बन्ध से घीका घड़ा कह दिया जाता है वैसे ही ग्रहण करने वाले के चित्त से सम्बंधित होने के कारण अचित्त को भी सचित्त कहदेने में कोई बाधा नहीं आती। यह बात व्यवहार नय से अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है। यह तीसरा सचित्त विशेष कर भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचारों में ही लागू पड़ जाता है क्योंकि भोगोपभोग परिमाण व्रत में सर्व प्रकार के अचित्त पदार्थों, इन्द्रियों के भोग और उपभोग की वस्तुओं का ही त्याग होता है, केवल सचित्त वस्तुओं का ही त्याग नहीं होता। यदि हम केवल सचित्त वस्तुओं का ही त्याग समझें तो बहुत सी बाधायें उत्पन्न हो जाती हैं। प्रथम तो पाक्षिक श्रावक से लेकर चौथी प्रतिमा के व्रती तक के सचित्त त्याग का सम्बन्ध ही नहीं है। यदि कहा जाय कि अभ्यास रूप

त्याग होता है तो यह बात भी बनती नहीं। क्योंकि यह नियमित बात नहीं है कि सब ही श्रावक चौथी प्रतिमा तक वाले अभ्यास रूप से सचित्त का त्याग करें ही। कोई करै कोई नहीं भी करै। करै तो कोन से सचित्त का करे? सजीव सचित्त का या योनिभूत सचित्त का? इसमें योनिभूत सचित्तका कोई त्याग करता है ऐसा देखने में आता नहीं तथा आगम में भी कहीं मिलता नहीं। चोथी प्रतिमा तक के श्रावक छना हुआ जल पीते ही हैं जो योनि भूत हैं। तथा जो सज्जन छने हुये जल में जल कायिक जीव मानते हैं उनके मतानुसार तो चौथी प्रतिमा तक के व्रती श्रावक असंख्यात जीवों सहित सचित्त जल पीते हैं। फिर कौन से सचित्त का अतिचार माना जायगा? अथवा क्या ऐसामान लिया जायगा कि जो श्रावक सचित्त का त्याग करते हैं उन के ये अतिचार लागू पड़ते हैं। तो क्या जो श्रावक सचित्त का त्याग नहीं करते हैं वे अनाचारी हैं? अथवा अतिचार भी एक के लिये तो लागू पड़ जाय और एक के लिये लागू न हो तो यह अपक्रम अतिचारों में कैसा? जैसा अतिचार सचित्त सम्बन्धी पाँचवी प्रतिमा से लेकर ऊपर तक घटित होता है वैसा अतिचार सचित्त सम्बन्धी यहां घटित नहीं होता इसलिये यहाँ सचित्त सम्बन्धी अतिचार त्यागी हुई वस्तु का ग्रहण ही है। इसके अतिरिक्त दूसरा अतिचार यहाँ पर लागू नहीं पड़ता।

इसका दूसरा कारण यह भी है कि स्वामी समन्तभद्रजी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में भोगोपभोग परिमाणव्रत के अतिचार

पाँचोंइन्द्रियों के विषय ही बतलाये हैं अर्थात् वर्तमान कालमें पांचों इन्द्रियों के विषयों में लालसा रखना। १—पूर्वकाल में भोगे हुये विषयों का स्मरण करना, २—विषय रूपी विष में आदर करना, ३—भविष्यकाल में विषय प्राप्ति की तृष्णा रखना, ४—और विषय न भोगते हुये भी विषय भोग रहा हूं ऐसा अनुभव करना इस प्रकार ये पांचों अतिचार पाँचो इन्द्रियों के विषय सम्बंधी बतलाये हैं।

"विषयविषतोऽनुप्रेक्षानुस्मृतिविरतिलौल्यमतितृषानुभवः।
भोगोपभोगपरिमाण्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥"

तथा उमास्वामीने तत्वार्थ सूत्र में भोगोपभोगपरिमाण व्रत के सचित्त, सचित्तसम्बन्ध सचित्तसम्मिश्र दुष्पकाहार और गरिष्ठभोजन इस प्रकार पाँच अतिचार माने हैं; "सचित्तसम्बन्धसंमिश्राभिषव दुःपक्वाहाराः।"

यदि यहाँ पर हम सचित्त संबंधी ही तीन अतिचार मानते हैं तो स्वामी समंतभद्र के कथन से यह कथन मिलान खाता नहीं क्योंकि स्वामी समन्तभद्र ने तो पाँचो इन्द्रियों के भोग और उपभोग सम्बन्धी त्यागी हुई वस्तुओं के ग्रहण की भावना रखने को अति चार माना है अतः दोनों अचार्यों के कथन में परस्पर विरोध मानना पड़ेगा किन्तु विरोध नहीं, विरोधाभास है। परन्तु उपर्युक्त सचित्तसंबंधी अर्थ करने से तो विरोध आये बिना नहीं रह सकता है अतः त्यागी हुई वस्तु को सचित्त समझकर अर्थ ग्रहण करने से

दोनों आचार्यों के कथन का समन्वय होकर विरोध मिट जाता है। इसलिये उपर्युक्त कथन से त्यागी हुई वस्तु की ही सचित्त संज्ञा है, ऐसा अभिप्राय प्रगट होता है। उस त्यागी हुई वस्तुका तीन तरह से ग्रहण होता है। केवल त्यागी हुई वस्तु का ही ग्रहण होजाना सचित्त ग्रहण नामका पहला अतिचार है तथा त्यागी हुई वस्तुका दूसरी वस्तु से संबंधित होकर ग्रहण होना यह दूसरा सचित्त संबंध नाम का अतिचार है और उस त्यागी हुई वस्तु का किसी दूसरी वस्तु के साथ समिश्रण होकर ग्रहण होना यह तीसरा सचित्त समिश्रित-नामका अतिचार है।

यह अतिचार प्रमाद और मोहवश लगता है "कथं पुनरस्य सचित्तादिषु प्रवृत्तिः स्यात्प्र माद सम्मोहाभ्याम्" ऐसा आचार्यों का कहना है, अतः मोह और प्रमाद को बढ़ाने वाला तथा शरीर में विकृति को पैदा करने वाला गरिष्ठ आहार और दुष्पकाहार माना गया है अतएव इसको उमास्वामी महाराज ने अतिचारों में गिनाया है कि न हो बाँस और न बजे बांसुरी, अर्थात् न हो मोह और न हो प्रमाद, फिर न लगे अतिचार। इसी हेतु से उमास्वामी महाराज ने गरिष्ठ पदार्थो के और दुःपकाहार के ग्रहण करने का निषेध किया है।

यहाँ पर एक बात ध्यान में रखने की है कि गरिष्ठ पदार्थ वही समझा जाता है जो हजम होने में कष्ट दायक हो और आलस्य तथा प्रमाद को उत्पन्न करने वाला हो। घी, मक्खन, मलाई, रबड़ी

पाँचोंइन्द्रियों के विषय ही वतलाये हैं अर्थात् वर्तमान कालमें पांचों इन्द्रियों के विपयों में लालसा रखना। १—पूर्वकाल में भोगे हुये विपयों का स्मरण करना, २—विषय रूपी विष में आदर करना, ३—भविष्यकाल में विपय प्राप्ति की तृष्णा रखना, ४—और विषय न भोगते हुये भी विषय भोग रहा हूं ऐसा अनुभव करना इस प्रकार ये पांचों अतिचार पाँचो इन्द्रियों के विपय सम्वंधी वतलाये हैं।

"विषयविषतोऽनुप्रेक्षानुस्मृतिविरतिलौल्यमतितृषानुभवः।
भोगोपभोगपरिमाव्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते॥"

तथा उमास्वामीने तत्वार्थ सूत्र में भोगोपभोगपरिमाण व्रत के सचित्त, सचित्तसम्वन्ध सचित्तसम्मिश्र दुष्पक्काहार और गरिष्ठभोजन इस प्रकार पाँच अतिचार माने हैं; "सचित्तसम्वन्धसंमिश्राभिषव दुःपक्काहाराः।"

यदि यहाँ पर हम सचित्त संवंधी ही तीन अतिचार मानते हैं तो स्वामी समंतभद्र के कथन से यह कथन मिलान खाता नहीं क्योंकि स्वामी समन्तभद्र ने तो पाँचो इन्द्रियों के भोग और उपभोग सम्वन्धी त्यागी हुई वस्तुओं के ग्रहण की भावना रखने को अतिचार माना है अतः दोनों अचार्यों के कथन में परस्पर विरोध मानना पड़ेगा किन्तु विरोध नहीं, विरोधाभास है। परन्तु उपर्युक्त सचित्तसंवंधी अर्थ करने से तो विरोध आये विना नहीं रह सकता है अतः त्यागी हुई वस्तु को सचित्त समझकर अर्थ ग्रहण करने से

श्रीमान् प० मोहनलालजी जैन काव्यतीर्थ ने सागारधर्मामृत की हिंदी टीका की है उसमें भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचारों का खुलासा इस प्रकार किया है "परन्तु यहाँ पर त्यागी हुई वस्तु के भक्षणका अज्ञान या असावधानी से मौका आजावे तो सचित्त नाम का अतिचार माना है। यही युक्ति सचित्त सम्बन्ध तथा सचित्त संमिश्र आहार के अतिचार में सम्मलित कर लेना चाहिये वास्तव में विचारकर देखा जाय तो यथार्थ बात भी यही है"।

इस विषय में जो सचित्त सम्बन्धी अतिचार मानते हैं वह सचित्त शब्द को पकड़ बैठते हैं। उन विद्वानों को जरा विचार के साथ अर्थ लगाना चाहिये था ? जब तक सचित्त वस्तुओं का त्याग नहीं होता है तब तक सचित्त सम्बन्धी अतिचार मानना ही असंगत है अर्थात् जब चौथी प्रतिमातक सचित्त वस्तुओं के त्याग का विधान भी नहीं है तब उनका अतिचार भी कैसा ? अतिचार तो तभी संभव हो सकता है, जब कि व्रत रूप त्याग हो। विना उस के अतिचार नहीं माने जा सकते इसलिये भोगोपभोग परिमाण व्रत में पाँचों इन्द्रियों के विषय सम्बन्धी भोगोपभोग सामग्री का ही त्याग होता है अतः त्यागी हुई वस्तुओं का ग्रहण हो जाना, सो ही अतिचार होगा इसलिये त्यागी हुई वस्तुओं के ग्रहण को ही सचित्त शब्द से प्रकट किया गया है, ऐसा समझना चाहिये।

यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि तुमने तो त्यागी हुई वस्तु के ग्रहण को सचित्त बताया है किन्तु सर्वार्थसिद्धि कार तथा तत्त्वार्थवृत्ति कारने तो सचित्ताहार, सचित्त सम्बन्ध आहार और

विदाम, पिस्ता, मोदक आदि जितनी मात्रा में अच्छी तरह हजम होसके उतना प्रमाद एवं आलस्यकारक नहीं होता है। ऐसी अवस्था में वह खड़ी आदि पदार्थ गरिष्ट नहीं है परन्तु जिनको साधारण रोटी भी अच्छी तरह नहीं पचती हो तो उनके लिये वह रोटी भी गरिष्ठ समझी जाती है। अतः एकांत से घी, मक्खन, मलाई आदिक पदार्थ ही गरिष्ठ नहीं और इनको ग्रहण करने वाले त्यागी तपस्वियों की अवहेलना कर पाप बन्ध कर लेना भी उचित नहीं है।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि सूत्रकार उमास्वामी जी ने त्यागी हुई वस्तु को ही सचित्त रूप में ग्रहण किया है। इसका खास कारण यह है कि यह अतिचार है भोगोपभोग परिमाण व्रतका। और व्रत है भोग और उपभोग की सामग्री का परिमाण करना। जिस सामग्री का व्रत रूप से परिमाण किया गया हैं उसका उल्लंघन करना या उसमें व्यतिरेक करना अतिचार कहलाता है। परिमाण तो भोग और उपभोग सम्बन्धी पदार्थोंका करें और अतिचार सचित्त सम्बन्धी बतावें यह किस प्रकार हो सकता है? यदि भोगोपभोग परिमाण व्रत में केवल सचित्त पदार्थोंका ही परिमाण कराया जाता तो अतिचार भी सचित्त सम्बन्धी ही हो सकता था परन्तु त्याग तो भोगोपभोग सम्बन्धी अनेक पदार्थों का करें और अतिचार सचित्त सम्बंधी ही टालें यह बात नहीं बनती। इसलिये यही मानना यथार्थ है कि त्यागी हुई वस्तु के ग्रहण को ही सचित्त कहा गया है। इसमें संदेह करने की कोई बात बाकी नहीं रह जाती है।

श्रीमान् पं० मोहनलालजी जैन काव्यतीर्थ ने सागारधर्मामृत की हिंदी टीका की है उसमें भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचारों का खुलासा इस प्रकार किया है "परन्तु यहाँ पर त्यागी हुई वस्तु के भक्षणका अज्ञान या असावधानी से मौका आजावे तो सचित्त नाम का अतिचार माना है। यही युक्ति सचित्त सम्बन्ध तथा सचित्त संमिश्र आहार के अतिचार में सम्मलित कर लेना चाहिये वास्तव में विचारकर देखा जाय तो यथार्थ बात भी यही है"।

इस विषय में जो सचित्त सम्बन्धी अतिचार मानते हैं वह सचित्त शब्द को पकड़ बैठते हैं। उन विद्वानों को जरा विचार के साथ अर्थ लगाना चाहिये था? जब तक सचित्त वस्तुओं का त्याग नहीं होता है तब तक सचित्त सम्बन्धी अतिचार मानना ही असंगत है अर्थात् जब चौथी प्रतिमातक सचित्त वस्तुओं के त्याग का विधान भी नहीं है तब उनका अतिचार भी कैसा? अतिचार तो तभी संभव हो सकता है, जब कि व्रत रूप त्याग हो। बिना उस के अतिचार नहीं माने जा सकते इसलिये भोगोपभोग परिमाण व्रत में पाँचों इन्द्रियों के विषय सम्बन्धी भोगोपभोग सामग्री का ही त्याग होता है अतः त्यागी हुई वस्तुओं का ग्रहण हो जाना, सो ही अतिचार होगा इसलिये त्यागी हुई वस्तुओं के ग्रहण को ही सचित्त शब्द से प्रकट किया गया है, ऐसा समझना चाहिये।

यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि तुमने तो त्यागी हुई वस्तु के ग्रहण को सचित्त बताया है किन्तु सर्वार्थसिद्धि कार तथा तत्त्वार्थवृत्ति कारने तो सचित्ताहार, सचित्त सम्बन्ध आहार और

सचित्त सम्मिश्रित आहार से तीन प्रकार के आहार को भोगोप भोग परिमाण व्रत के तीन अतिचार माने हैं "चेतनावद्द्रव्यं तदुप श्लिष्टः सम्बद्धः तद्व्यतिकीर्णः सम्मिश्रः अर्थात् सजीव द्रव्यहारः सजीव सम्बंधाहारः सजीवसम्मिश्रिताहारः"। ऐसा तथा "तत्वार्थ वृत्तौ चेतनं चित्तं तेन सह वर्त्तते स सचित्तः तेन सचित्तेन उप-संसृष्ट उपश्लिष्टः शक्यभेदकरणः संसर्गमात्र सहितः स्वयं शुद्धोऽपिसचित्त सम्बन्धमात्रेण दूषितआहारः सम्बन्धाहारः सचित्तव्यतिकीर्णः सम्मिलितः सचित्त द्रव्य सूक्ष्म प्राण्यति मिश्रः अशक्यभेदकरण-आहारः सम्मिश्राहारः संग अतिसङ्गौ सम्बन्ध समिश्रयोर्भेदः चेतना सहित द्रव्याहारः सजीव संसर्गमात्र सहित आहारः" यद्यपिये आहारशुद्ध हैं तथापि जीवों के संग होने से दूषित आहार बन जाता है उसको सचित्त सम्बन्धाहार कहते हैं। इस आहार में सचित्त का सम्बन्ध अलग किया जा सकता है किन्तु सचित्त सम्मिश्राहार से सचित्त पदार्थ अलग नहीं किये जा सकते। बस दोनों में इतना ही अन्तर है ऐसा निरूपण किया गया है इसलिये श्री उमास्वामी के मतानुसार भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचार सचित्त सम्बन्धी ही मानना होगा।

शंकाकार की यह शंका सत्यसी प्रतीत होती है परन्तु वास्तव में यथार्थ बात वही है जो मैंने ऊपर बतलाई है क्योंकि दोनों टीकाओं का अभि प्राय भी मेरे कहने के अनुकूल ही है। इसका विशेष खुलासा इस प्रकार है कि यहाँ पर जो सचित्त सम्बन्धी अतिचार बताये हैं वे उपलक्षणमात्र हैं जैसे कि "काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्"

अर्थात् किसी ने कहाकि कौवों से दही की रक्षा करना, तो क्या अन्य जानवरों से दही की रक्षा न कीजावे ? कौवा केवल उपलक्षण मात्र है। दही खाने वाले सभी से यहां काक शब्द का अर्थ है। ऐसा ही संकेत रसनेंद्रिय के अतिचारों को मुख्य करके किया है। यह उपलक्षण मात्र कथन है, किन्तु पांचों इन्द्रियों के अतिचारों का द्योतक है। सब इन्द्रियों में रसना इन्द्रिय मुख्य मानी गई है क्योंकि इस रसना इन्द्रिय के द्वारा ही पदार्थ पेट में जाते हैं और पदार्थ पेट में जाने से ही बाकी की चार इन्द्रियां अपने विषय में प्रवृत्ति करने में समर्थ होती हैं। अतः इसीको मुख्य करके अतिचार प्रकट किया है इसमें कोई विरोध की बात नहीं है। हमको यहां पर यह देखना है कि भोगोपभोग की सामग्री का परिमाण सचित्ता-चित्त स्वरूप में ही किया जाता है या केवल सचित्त द्रव्य का अथवा केवल अचित्त द्रव्य का। यदि दोनों का ही किया जाता है तो अतिचार भी दोनों के व्यतिक्रम करने का होगा। दूसरी बात यह है कि व्रत है भोगोपभोग परिमाण का और उपभोग के पदार्थ रसना इन्द्रिय द्वारा उपभुक्त होते नहीं, किन्तु अन्य चार इन्द्रियों द्वारा ही उपभोग सम्बन्धी पदार्थ उपभुक्त होते हैं। इसीलिये यह भी मानना होगा कि वह पाँचों इन्द्रिय-सम्बन्धी ही अतिचार है। रसना इन्द्रिय सम्बन्धी अतिचार केवल उपलक्षण मात्र है।

तत्वार्थ वृत्ति में भोगोपभोगपरिमाणव्रत का स्वरूप ऐसा निरूपण किया है:—

"उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतं कथ्यते। अशनपानगंधमाल्य ताम्बूलादिकउपभोगः कथ्यते, आच्छादनप्रावरणभूषणशय्या-

शनगृहयानवाहनवनितादिकः परिभोग उच्यते। उपभोगश्च परिभोगश्च उपभोगपरिभोगौ तयोः परिमाणं उपभोगपरिभोगपरिमाणं। भोगोपभोगपरिमाणमिति च क्वचित् पाठो वर्तते तत्र अशनादिकं यत् सकृद् भुज्यते स भोगः। वस्त्रवनितादिकं यत् पुनः पुनर्भुज्यते स उपभोगः। उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रते नियतकाल सम्बन्धेऽपि मद्यं मांसं मधुच सदैव परिहरणीयं त्रसघातनिवृत्त चित्तेन पुंसा केतकीनिम्बकुसुमार्द्रकमूलकसर्वपुष्पानन्तकायिक छिद्रशाकनालीनलादिकं बहुजन्तुयोनिस्थानं तदपि यावज्जीवं परिहर्तव्यं बहुघाताल्पफलत्वात्। तथा चोक्तम्:—

अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणिशृङ्गवेराणि।
नवनीत निम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम्॥

अथोपभोगविचारः—यानवाहन भूषणवसनादिकमेतावन्मात्रमेव ममेष्टमन्यदनिष्टमिति ज्ञात्वा अनिष्टपरिहारः कालमर्यादा यावज्जीवं वा कर्त्तव्यः—

"अर्थात् उपयुक्त सचित्त अचित्त सम्बन्धी भोगोपभोग की सामग्री का काल की मर्यादा से या आजन्मपर्यंत त्याग कर देने को भोगोपभोगपरिमाण व्रत कहते हैं। जो पदार्थ एक वार भोगने में आवे उसे भोग कहते हैं जैसे भोजन पान-गन्ध, माल्य, ताँबूल, आदि। ये पदार्थ एक वार ही भोगने में आते हैं, इसलिये इनका परिमाण कर लेना भोगपरिमाण है। तथा जो पदार्थ वार २ भोगने में आवे उसे उपभोग कहते हैं, जैसे आभूषण, शय्या, घर, यान, वाहन स्त्री आदि पदार्थ वार २ भोगने में आते हैं अतः इनका परिमाण कर लेने को उपभोग परिमाण कहते हैं। उपभोग और

उपभोग सम्बन्धी पदार्थ सचित्त भी हैं तथा अचित्त भी हैं और यहाँ पांचों इन्द्रियों के विषय हैं। इनमें मद्य, मांस, मधु त्रसघात से, पंचोदुम्बरादि पदार्थ तथा बहुघात से, निम्ब केतकी वगैरह के फूल तथा अदरक मूली आदिक दस कंद तथा छिद्रवाली शाक नलादिक ऐसे पदार्थों का तो यावज्जीव त्याग कर देना चाहिये। तथा इसी प्रकार यान वाहनादिक का भी यथा शक्ति यावज्जीव या कुछ काल की मर्यादा से त्याग कर देने को भोगोपभोग परिमाण व्रत कहते हैं तथा इस व्रत में पदार्थों के किये हुये परिमाण की उल्लंघन करना ही अतिचार कहलाता है। इसलिये भोगोपभोगपरिमाण व्रत में सचित्त तथा अचित्त दोनों प्रकार के पांचों इन्द्रिय सम्बन्धी पदार्थों का ही परिमाण होता है और उसका उल्लंघन होजाना ही अतिचार है और यह अतिचार इन कारणों से होता है;—

"कथमस्य शीलवतः सचित्तादिषु प्रवृत्तिरिति चेत्? उच्यते; मोहेन प्रमादेन वा बुभुक्षा पिपासातुरः पुमान् अन्नपान लेपनाच्छादनादिषु सचित्तादिषु विशिष्टेषु द्रव्येषु वर्तते" अर्थात् इन अतिचारों में सज्जनों की प्रवृत्ति मोह से, प्रमाद से, क्षुधातुर होने से अथवा पिपासित होने से होती है। मोह के वशीभूत हुआ मनुष्य स्त्री आदि का किया हुआ परिमाण का उल्लंघन कर देता है तथा प्रमाद का मारा अनछने जल को या मर्यादा बाह्य छने जलको तृषातुर मनुष्य पी जाता है। इसी प्रकार क्षुधातुर मनुष्य विवेक हीन होकर सजीव कन्दमूलादिक का सेवन कर लेता है अथवा इन

सचित्त पदार्थों से सम्बन्धित अन्य अचित्त पदार्थों का सेवन कर लेता है या सम्मिश्र पदार्थों का सेवन करलेता है। इस प्रकार सचित्त सम्बन्धी भी तीन अतिचार हो जाते हैं।

हम उपर कह चुके हैं कि जैनी मात्र जीव सहित पदार्थों का भक्षण नहीं करता। इसी कारण चौथी प्रतिमा तक योनि भूत सचित्त, वस्तु का त्याग न होते हुये भी सजीव पदार्थों के भक्षण करने का त्याग अवश्य होता है। इस कारण सजीव वस्तु का उपर्युक्त कारणों से सेवन होजाने से अतिचार बन जाता है। सम्बन्धी वस्तुओं में से सचित्त पदार्थ निकाला जा सकता है। तोभी विचारणीय है कि एक सम्बन्ध तो ऐसा है जो उनको अलग करने पर भी शुद्ध नहीं होता और एक सम्बन्ध ऐसा है जिस के अलग करने से भोजन शुद्ध हो जाता है। किन्तु मिश्रण हो जाने से भोजन शुद्ध नहीं होता, जैसे रवड़ी आदिक तरल पदार्थों में सूक्ष्म जन्तुओं का। वह मिश्रण अलग नहीं किया जा सकता है इसलिये भोजन अशुद्ध ही रहता है और वह ग्रहण करने योग्य नहीं माना गया है ऐसा उपर्युक्त टीका का सम्बन्ध है। किन्तु जो विद्वान् सचित्त शब्द से कन्दमूलादि जो सदा सचित्त ही रहते हैं उनका ग्रहण न करके अन्य निर्जीव वनस्पति का ग्रहण कर बैठते हैं यह महान् अज्ञानता है क्योंकि उपर्युक्त टीका में कंदमूलादिक बताई हुई वनस्पति के अतिरिक्त सब वनस्पति निर्जीव हैं, ऐसा कहागयाहै। उन वनस्पतियों का सम्बन्ध मिश्रण (यदि उन वस्तुओं का त्याग नहीं है तो) निर्दोष है उन से सचित्तादि दोष नहीं लगता।

यहाँ इतनी बात और समझ लेनी चाहिये कि भोगोप-भोग परिमाण व्रत में परिमाण वस्तु मात्र का होता है चाहे वह वस्तु गीली ही हो चाहे सूखी हो। जिस दिन जिस वस्तु का त्याग होता है त्यागी उस दिन उस वस्तु को नहीं खाता। वहाँ उसके गीली सूखी का सवाल नहीं रहता। क्योंकि गीली वनस्पति भी निर्जीव है और सूखी भी यदि ऊलन फूलन रहित होतो निर्जीव है। इसलिये दोनों समान है। आज हम अमुक वस्तु गीली न खायेंगे, सूखी खायेंगे, ऐसा त्याग नहीं होता है। यदि इन दोनों में अन्तर होता तो आचार्य कन्दमूलादिक की तरह अन्य वस्तुओं को भी सचित्त बतलाकर निषेध करदेते ? आचार्यों ने तो कन्द मूलादिक काही निषेध किया, अन्य वस्तुओं का निषेध तो नहीं किया। इसलिये कंद मूलादि से भिन्न वनस्पतियां भिन्न होने पर निर्जीव हैं, ग्राह्य हैं।

ब्रह्मचारी भूरामलजी साहिब ने कंदमूलादिको अग्निपक्व होने से व्रतियों तक के लिये भी ग्राह्य बतलादिया सो अनुचित है। उन को उपयुक्त टीका से अपनी गलती का प्रायश्चित करना चाहिये। इस तत्वार्थवृत्ति में वनस्पति के सम्बन्ध में ऐसा लिखा है, "आर्द्रः छिन्नो भिन्नो मर्दितो लतादिर्वनस्पतिः उच्यते। शुष्कादिर्वा वनस्पतिकायः" अर्थात् छेदी गई भेदीगई मर्दित की गई गीली लतादि वनस्पति है जो वनस्पति का पहिला भेद है। तथा सूखी वनस्पति वनस्पतिकाय है। प्रत्येक काय के चार भेदों में प्रथम दो भेद स्थावर नहीं कहलाते क्योंकि वे अजीव हैं तथा इनके स्थावर नाम कर्म का उदय भी नहीं है। गीली वनस्पति भी छिन्न भिन्न

मर्दित की हुई, निर्जीव है, ऐसा आचार्यों का कहना है। इसलिये इसको मानकर प्रवृत्ति करना जरूरी है। अतिचारों के सम्बन्ध में भी खुलासा किया जा चुका है।

प्रत्येकं चतुर्भेदेषु मध्ये पृथ्व्यादिकं कायत्वेन गृहीतवन्तो जीवा विग्रहगतिप्राप्ताश्च प्राणिनः स्थावराः ज्ञातव्याः। तेषामेव पृथिव्यादिस्थावरकायनामकर्मोदयसद्भावात् न तु पृथिव्यादयः पृथ्वीकायादयश्च स्थावराः कथ्यन्ते अजीवत्वात् कर्मोदयभावाभावाच्च।"

इससे स्पष्ट और क्या होगा? जिस प्रकार रसना इन्द्रिय सम्बन्धी सचित, सचित्त सम्बन्ध और सचितसम्मिश्र अतिचार होते हैं। इसी प्रकार और चारों इन्द्रियों में घटितकर लेना चाहिये। रागादिभावों के वशीभूत हुआ मनुष्य अन्य चारों इन्द्रियों के विषयों में भी किये हुये परिमाण का सचित्ताचित्त सम्बन्ध में अतिक्रमकर देता है जिससे सचित्त, सचित्त अचित्त सम्बन्ध, सचित्त अचित्त सम्मिश्र कथंचित् इस प्रकार तीन २ अतिचार घटित हो जाते हैं। जैसे जीव शब्द, अजीव सम्बंधित जीवशब्द, अजीवसम्मिश्र जीवशब्द इस प्रकार सब में घटितकर लेना चाहिये किन्तु जो विद्वान् सचित्त शब्द से केवल वनस्पति का ही ग्रहण करते हैं सो ठीक नहीं है। सचित्त शब्द से जीव सहित पदार्थ का भी ग्रहण होता है, त्यागी हुई वस्तु का भी ग्रहण होता है। वह वस्तु चाहे सूखी हो, चाहे गीली हो, इससे कोई सम्बन्ध

नहीं। सम्बन्ध है केवल सचित्त पदार्थों से अथवा त्यागी हुई वस्तु से। यदि सूखा पदार्थ जीव सहित है तो वह सचित्त है अथवा गीली सब्जी भी यदि निर्जीव है तो वह अचित्त है। तथा त्यागी हुई वस्तु भी अचित्त है तो भी उसका ग्रहण करना सचित्त है इसलिये सचित्तशब्द से केवल वनस्पतिका ही ग्रहण करना भारी भूल है, अथवा भारी भ्रम है। जो छिन्न भिन्न मर्दित की हुई वनस्पति को भी सचित्त मान बैठे हैं उनको यहाँ इतनी बात और समझ लेनी चाहिये कि पाक्षिक अवस्था में अभक्ष्य भक्षण न करने पर भी अमर्यादित वस्तुओं का सेवन हो जाता है। पाक्षिक अवस्था में अभक्ष्य पदार्थों का सेवन नहीं करना, यह शील रूप से विधान है, व्रत रूप से नहीं। इसी कारण साक्षात् अभक्ष्य वस्तु का सेवन तो नहीं करता किन्तु अभक्ष्य सम्बन्धित पदार्थों का सेवन हो जाता है। इसलिये उनके सचित्त सम्बन्धी भी अतिचार बन जाता है। वे अभक्ष्य, आचार्यों ने पाँच तरह के माने हैं। इन पाँच तरह के अभक्ष्यों में सर्व प्रकार के अभक्ष्योंका समावेश हो जाता है।

पलमधुमद्यवदखिलस्त्रसबहुघातप्रमादविषयोऽर्थः।
त्याज्योन्यथाप्यनिष्टोऽनुपसेव्यश्च व्रताद्धिफलमिष्टम्॥

भावार्थ—भोगोपभोग परिमाण व्रत के पालन करने वाले श्रावकों को माँस, मधु, मदिरा, त्रसघात, बहुघात और प्रमाद को बढ़ाने वाले ऐसे पदार्थ अथवा त्रसघातादि नहीं होने पर भी जो वस्तु

अनिष्ट है अथवा इष्ट होने पर भी जो अनुपसेव्य है उत्तम कुल वालों के सेवन करने के योग्य नहीं है। ऐसे सम्पूर्ण भोगोपभोग सम्वन्धी पदार्थों का त्याग कर देना चाहिये क्योंकि इस व्रत के प्रभाव से स्वर्गादिक इष्ट फल की प्राप्ति होती है।

यहां त्रसघात से सम्बन्ध है मद्य माँस मधु का, वहुघात से सम्वन्ध है कंदमूलादिक वनस्पतियों का, प्रमाद से सम्बन्ध है नशीली चीजों के सेवन का, तथा अनुपसेव्य से सम्वन्ध है नीच लोगों से स्पृष्ट भोजन पान का एवं चलितरस पदार्थों के या मल मूत्रादिक के सेवन से अथवा चित्रविचित्र वस्त्रपरिधारण एवं विकृत वेषभूषादि अवधारण भी सब अनुपसेव्य है।

इन अभक्ष्यों का त्याग व्रत रूप से पहली प्रतिमा से होता है किन्तु पाक्षिक अवस्था में भी शील रूप से त्याग हो जाता है। इसलिये इनके तो सचित्त सम्वन्धित अतिचार लग भी जाता है क्योंकि चलित रसादिक पदार्थों का सेवन पाक्षिक के बन भी जाता है परन्तु पहली प्रतिमा से ऊपर की प्रतिमावालों को सचित्तादि अतिचार नहीं लगाना चाहिये क्योंकि उनका त्याग व्रत रूप में हो जाता है। अतः निर्दोष व्रत वही कहलाता है जो निरतिचार है। इसके अतिरिक्त भोगोपभोग परिमाणव्रतियों को ऐसा व्यापार भी नहीं करना चाहिये जो विशेष हिंसा का साधन हो। हिंसा के साधन भूत व्यापार से कमाया हुआ धन उन भोगोपभोग की वस्तुओं मे खर्च होगा इसलिये कारण में कार्य का उपचार करके निषेध

किया गया है। जैसे वनजीविका अग्निजीविका, वनदाहजीविका चर्मजीविका, विपवाणिज्यादिजीविकाएँ आदि भोगोपभोग परिमाणव्रतियों को नहीं करना चाहिये। इस भोगोपभोग परिणाम के अतिचारों के सम्बन्ध में ब्र० भूरामलजी ने अपने सचित्त विचार ट्रेक्ट में सचित्त, सचित्त सम्बन्ध, सचित्त सम्मिश्र इन तीनों अतिचारों पर एक शब्द भी नहीं लिखा। इसका यही कारण हो सकता है कि इन अतिचारों का खुलासा करने से अपनी असत्य मान्यता में फरक आजाता ? इसलिये ही उन तीन अतिचारों पर कुछ भी न लिखा जो खास वात थी। केवल दुःपक आहार के अतिचार पर ही अपनी लेखनी चलाई है जिसका सचित्त से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह अतिचार तो इसलिये माना गया है कि दुष्पकाहार के करने से शरीर में अजीर्णादिरोग पैदा होकर वातादिक का प्रकोप हो जाता है जिससे स्मरण शक्ति का ह्रासहोकर भोगोपभोग सम्बन्धी पदार्थों में किये गये परिमाण का उल्लंघन हो जाना सहज वात है।

इसके सम्बन्ध में तत्त्वार्थवृत्तिकार इस प्रकार खुलासा करते हैं "असम्यग् पक्व इति दुपकःअस्विन्नःअतिक्लेदनेन वा दुःपकः दग्धपक्वः इति दुःपकः तस्य आहारः दुःपक्वाहारः वृष्य दुःपक्वयोः सेवने सति इन्द्रियमदवृद्धिः सचिदिकोपभोगवातादिप्रकोपोदरपीड़ादि प्रतिकारे अग्न्यादिप्रज्वालने महान् असंयमः स्यादिति तत् परिहारः एव श्रेयान् अस्ति।" दुःपक्वाहार का सम्बन्ध है अनाज से। दाल भात खिचड़ी कढी आदि अन्नकी चीजें अध्रपकी

ज्यादा पककर लग गई हों या उनमें दुर्गन्ध आने लग गई हो तो उसको दुष्पक्व कहते हैं। परन्तु ब्र० भूरामलजी इस दुष्पक्वाहार से खींचातानी करके यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जब कम सीझा हुआ अंश भी अग्राह्य है तब फिर बिना सिजाया हुआ तो त्याज्य होना ही चाहिये। ऐसा कहने का अभिप्राय उनका यह है कि छिन्न भिन्न की हुई वनस्पति भी बिना सिजाई गई संयमियों के खाने योग्य नहीं होसकती। जबकि कम सीझी वस्तु अग्राह्य है तब बिना सिझी वस्तु तो अग्राह्य स्वतः होजाती है। यहाँ पर ब्रह्मचारी जी ने कहीं का प्रकरण कहीं पर लगाकर भानुमती का कुनवा जोड़ा है। यह प्रकरण तो भोगोपभोग परिमाण व्रती श्रावक का है और लागू करते है मुनि संयमियों पर।

यदि कहा जाय कि "जब इस दुष्पक्व अहार को भोगोपभोग परिमाण व्रती श्रावक ग्रहण नहीं करता तब इसको संयमी कैसे ग्रहण करे?" परन्तु इस बात को आप ही नहीं मानते किन्तु आप स्वयं अपनी शंकाके विपरीत कहते हैं। एक तरफ तो अव्रती श्रावकों के लिये वनस्पति मात्र का त्याग करना बताना दूसरी तरफ व्रती श्रावकों के लिये कंदमूलादि अनंत कायवाली वनस्पतियों को उबालकर खाने का विधान करना आप जैसे विद्वानों का काम तो नहीं होना चाहिये। खैर ब्रह्मचारीजी को इस बात का ध्यान रहे कि सभी धानों का माप पाँच पसेरी नहीं होता किन्तु जैसी जो वस्तु है उसके साथ वैसा ही बरताव करना पड़ेगा। इसलिये दुष्पक्व आहार का सम्बन्ध अनाज की वस्तुओं पर लागू होता है

न कि वनस्पति फलादि पर। क्योंकि कच्चे, या अधपके अथवा जले हुए अनाज के खाने से शरीर में रोगोत्पत्ति हो जाना अनिवार्य है। इसलिये यह अचित्त होने पर भी अनिष्ट की कोटि में अभक्ष्य माना गया है, परन्तु काल परिपक्व आम्रादि फल न सचित्त है और न उनके खाने से शरीर में किसी प्रकार की हानि ही होती है और वह दुःपक्व भी नहीं है। अतः सबके साथ समानता का बरताव करना अज्ञानता का द्योतक है। अपने कथन की पुष्टि में बाबाजी ने एक मूलाचार की गाथा लिखकर चौदह मल दोषों को नामावली दी है।

"णहरोमजंतुअट्ठीकणकुंडय पूयचम्मरुहिरमंसाणि।
बीयफलकंदमूला छिण्णाणि मला चउद्दसा होंति॥

इस गाथा में दोष उत्पन्न करने वाली चौदह चीजों का नामोल्लेख किया है। इनमें कई चीजें सचित्त एवं कई चीजें अचित्त भी हैं और ये सब चीजें आहार में दोष पैदा करने वाली हैं अथवा सब ही त्याज्य हैं तो भी बाबाजी भूरामलजी ने सबको छोड़ कर केवल कण कहिये, जो गेहूं आदि और कुण्ड कहिये अधसिझे का ही ग्रहण किया है। जो अचित्त होने पर भी अनिष्टकारक होने से अभक्ष्य है। इसके साथ सचित्त का कोई सम्बन्ध नहीं है परन्तु उनके तो एक यही धुन सवार हो गई है कि "वनस्पति को व्रती सिझाकर ही खावे, चाहे वह अनन्त काय ही क्यों न हो? किन्तु बिना सीझी हुई वनस्पति निर्जीव भी हो तो व्रती के अखाद्य

ही है" केवल इसी धुन की पुष्टि करने के लिये ऐसे २ असंगत प्रमाणों की अनावश्यक शरण ली है। यहां पर भी उनका यही कहना है कि जब अधसिके खाने का निषेध है तब विना सिके का निषेध क्यों नहीं ? इसका खुलासा ऊपर किया जा चुका है। इसलिये इस सम्बन्ध में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। तो भी इसमें एक बात रह जाती है उस पर प्रकाश डालना परमावश्यक है। आपने :—

"मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दप्रसूनबीजानि ।
नामानि येऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः ।"

इस कारिका के संबन्ध में प्रथम तो यह शंका उठाई है "कि इस श्लोक में आम शब्द आया है। जिसका यह अर्थ किया जाता है कि सचित्त त्यागी, मूलादि वनस्पति को कच्ची अवस्था में न खाय किन्तु जब पक जाये, चाहे अग्नि के द्वारा पक जावे चाहे काल के द्वारा या और किसी तरह पक जावे तो खा सकता है। परन्तु यह अनुचित है क्योंकि प्रथम तो आम शब्दका व्यवहार अनग्नि पक्व में भी आता है देखो "आमगोरस सम्पृक्तमित्यादि" सागार धर्मामृत के श्लोक में। दूसरे आम शब्द का अर्थ काल पक्व नहीं, ऐसा किया जाय तो शाक पत्ता वगैरह को फिर किसी अवस्था में खा नहीं सकते। क्योंकि शाक तो काल पक्व अवस्था में भी अग्नि से पकाकर खाया जाता है तब फिर शंकाकार के कहने अनुसार अकाल पक्व अवस्था में नहीं खावें यह बन नहीं सकता। दूसरी

शंका शाक वगैरह को अग्नि, पक्क करके खावे लेकिन फलों को काल पक्क होने पर खालेवें ऐसा ऊपर की कारिका का अर्थ करना ठीक नहीं है। क्योंकि एकाधिकरण में आये हुये अनेक विशेष्यों के लिये प्रयुक्त एक विशेषण शब्द का अर्थ एक के लिये कुछ और लेना और दूसरे के लिये कुछ और ही सोतो बड़ा भारी दोष है। अतः जितनी भी हरित चीजे हैं वे अग्नि पक्क होने पर ही सचित्त त्यागी के खाने योग्य होसकती हैं।"

"प्रथम ब्रह्मचारी जीने गोरस के साथ आम शब्द का मिलान किया है। वह असंगत है। क्योंकि गोरस काल पक्क किसी हालत में होता ही नहीं, वह तो अन्तर्मूहुर्त के बाद अभक्ष्य अवस्था में परिणत हो जाता है। परन्तु फल आदि काल पक्क होता है और वह भक्ष्य ही समझा जाता है। इसलिये गोरस को अग्नि पक्क किया जाता है तो वनस्पति को भी अग्नि पक्क करना चाहिये, ऐसा मानना पाश्चात्यप्रेमी विद्वानों की मान्यता के समान है। जैसे उनका कहना है कि जब सूर्य चन्द्र तारा गोल है तो पृथ्वी भी गोल होनी चाहिये क्योंकि इस पृथ्वी के समान वे भी तो पृथ्वी ही है। अतः सूर्य वगैरह की पृथ्वी गोल हो और यह पृथ्वी गोल न हो ऐसा किस प्रकार होसकता है? इस प्रकार की व्यवस्था करने वाले पश्चिमी विद्वानों के गोल में गोल है उसी प्रकार ब्रह्मचारी जी, अग्नि पक्क आम और गोरस के समान अनग्नि पक्क आम वनस्पति को समझते हैं अतः ब्रह्मचारी जी के भी आम में आम पना है जिस प्रकार मूल, फल, शाक (पत्ता) शाखा

(डाली) करीर (कोंपल) कंद, प्रसून (फूल) बीज इन आठ विशेष्यों के साथ जैसे आम विशेषण का एकाधिकारण किया है वैसे उस गाथा में भी एकाधिकरण क्यों नहीं किया क्योंकि जिस प्रकार उस कारिका में मूलादि आठ विशेष्यों के साथ आम विशेषण का एकाधिकरण किया उसी प्रकार इस गाथा में आये हुये रोम, जंतु, कण, कुण्ड्य (अधपका) पूय. चर्म. रुधिर, मांस बीज, फल, कंद, मूल, आदि विशेष्यों के साथ मल विशेषण का एकाधिकरण करना था और यह बताना था कि जिस प्रकार कण आहार में दोष उत्पन्न करता है उसी प्रकार कंद· मूल भी आहार में दोष पैदा करते हैं परन्तु ऐसा कहें किस प्रकार ? क्योंकि उनको तो सिझाकर खाने का संयमियों के लिये विधान करना था। इसीलिए कहीं एकाधिकरण करदिया और कहीं नहीं।

अब यहां बाबाजी यदि उनका निषेध करें तो स्ववचन बाधित हो जाता है। इसलिए सबका एकाधिकरण न कर उनमें से केवल कण और अधसीजे का ग्रहण कर यह बता दिया कि बिना सिजाया हुआ अनाज अथवा अध सीजा हुआ भोजन जब आहार में मल दोष उत्पन्न करता है तब अनग्नि पक्व वनस्पति आहार में दोष क्यों नहीं पैदा करती ? परन्तु ऐसा लिखने वाले उत्तर दें कि वनस्पति भले प्रकार सीजने से संयमियों के खाने योग्य हो जाती है तो क्या इसी प्रकार इस गाथा में आये हुए मांसादि पदार्थ भी अग्नि द्वारा अच्छी तरह पका लेने पर संयमियों के आहार योग्य हो जायेंगे ? यदि नहीं तो उन चौदह पदार्थों में से कुछ को तो सिजा

कर खाने योग्य मान लें और कुछ को किसी हालत में भी खाने योग्य न समझें तो क्या यह पंक्ति भेद नामका महान् दोष उत्पन्न नहीं होगा ? जैसे कि मूलफलशाक वाली कारिका में तो शाक भाजी को सिजाकर खाने से और फलादि को बिना सिजाये छिन्न भिन्न करके ही खाने में पंक्ति भेद हो जाता है वैसे इस गाथा में आये हुए कण, बीज, फल कंद मूलादि को तो सिजाकर खाने में और रोम जन्तु मांसादि को किसी हालत में भी न खाने में पंक्ति भेद नामक दोष कैसे न होगा ? बाबाजी ! वस्तु स्वभाव में कोई तर्क नहीं चलता । जो पदार्थ सिजाने से काम में आने योग्य होतो उसको सिजाकर काम में लेना और जो पदार्थ विना सिजाये छिन्न भिन्न करने पर ही खाने योग्य हो जाय तो उनको सिजाने की जरूरत नहीं, उसे तो बिना सिजाये ही खाने के काम में लेना चाहिए और न खाने योग्य है उसको किसो हालत में खाने योग्य नहीं समझें यही श्रेयोमार्ग है । वे यह भी लिखते है कि छिन्नभिन्न करने पर भी पत्र पुष्प फलादिक विलकुल अचित्त नहीं हो पाते । इसकी पुष्टि में एक गाथा भी मूलाचार की दी है:—

पुढवीआऊय तहा हरिदा बी या तसायसज्जीवा ।
पंचेहि तेहिं मिस्सं आहारं होदि उम्मिस्सं ॥

पृथ्वी (कंकर पत्थर मिट्टी वगैरह), जलहरी, (सचित्त सब्जी), वीज, अथवा त्रसजीवों से मिला हुआ आहार, उन्मिश्रण दोष वाला आहार समझा जाता है ।

इस गाथा में ऐसा कोई भी शब्द नहीं आया है जिसमें छिन्न भिन्न की हुई वनस्पति सचित्त है, तो भी ब्रह्मचारीजी को इस गाथा के अन्दर यह शब्द दिखाई देरहा है कि छिन्न भिन्न की हुई वनस्पति विल्कुल अचित्त नहीं होती अर्थात् उसमें कुछ सचित्त पना रह जाता है। अथवा विल्कुल शब्द से यह भी अर्थ लिया जा सकता है कि उसका अंशमात्र भी अचित्त नहीं होता। किन्तु यह गाथा है उन्मिश्रण दोप वाली, इसलिये ठंडा पदार्थ अचित्त भी गर्म पदार्थ अचित्त के साथ सम्मिश्रण हो जाने से उन्मिश्रण दोप होजाता है। अतः इस दोप को लक्ष्य में रखकर कोई यह समझ बैठे कि सचित्त पदार्थ के साथ ही उन्मिश्रण दोष होता है यह समझ भूलभरी है क्योंकि इसकी टीका में ऐसा लिखा है:-
"पृथिवी मृत्तिका आपः अप्रासुकास्तथा हरिताहरितकायाः पत्रपुष्प फलादय; वीया वीजानि यवगोधूमादय इत्यादि। इसमें पृथ्वी से कंकर पत्थर मृत्तिका का ग्रहण है और यह अचित्त है तो भी इनका सम्मिश्रण आहार में दोप उत्पन्न करता है। दांतों के नीचे कंकर की रगड़ आने से आहार अशोधित ही समझा जाता है और वह अंतराय को पैदा करता है" इसलिये वह आहार उन्मिश्रण दोपवाला समझा जाता है। अथवा योनिभूत अचित्त छना हुआ कच्चा जल उष्ण जल में मिला देना या गेहूँ वगैरह सुखा हुआ कच्चा अनाज भोजन में मिलादेना यह भी उन्मिश्रण दोप कहलाता है तथा सजीव पदार्थों का आहार के साथ सम्मिश्रण होजाने से भी उन्मिश्रण दोप कहलाता है। अतः केवल सचित्त

पदार्थों के सम्मिश्रण को ही उन्मिश्रण दोष समझना अनुचित है। कंद मूलादि वनस्पतियों को सिझाकर ही व्रती श्रावक खावे इसकी पुष्टि में मूलाचार की अनगार भावनाधिकार सम्बन्धी गाथा है उसे उद्धृत न कर केवल अपनी तरफ से उस गाथा का आशय प्रकट करते हुये लिखते हैं कि योग्य पुरुष अग्नि में पकाये विना कंदमूल बीजादि को न खाने योग्य समझते हैं। मतलब यह है कि अग्निपक्क होने पर भी धीर वीर संयमी कन्द मूल फल बीज वगैरह को खा सकते हैं। ब्र० भूरामलजी की दृष्टि में अनन्तकायिक वनस्पति खानेवाले धीर वीर संयमी हैं। धन्य है!

जो पर्व-दिनों में भी वनस्पति को सिझाकर खाता रहे और संयमी साधु या व्रती श्रावक बना रहे यह आश्चर्य नहीं तो और क्या? यदि वनस्पति मात्र साधारण गृहस्थों के लिये अखाद्य है तो व्रती बनने के बाद वह वनस्पति खाद्य किस प्रकार बन जाती है? यदि वनस्पति खाद्य पदार्थ है तो अव्रती के लिये अखाद्य कैसी? न्याय तो ऐसा है जो पदार्थ व्रती के लिये खाद्य है वह अव्रती लिये स्वतः खाद्य समझा जाता है। अथवा जो पदार्थ अव्रती के लिये भी अखाद्य है वह व्रती के लिये स्वतः अखाद्य है। इसके विपरीत ऐसा नहीं हो सकता कि अव्रती श्रावकों के लिये जो पदार्थ अखाद्य है वह पदार्थ व्रती बनने पर उसके खाद्य बनजाय अथवा व्रती के लिये जो पदार्थ खाद्य है वह अव्रती के लिये अखाद्य हो जाय? इसको कौन समझदार स्वीकार करेगा? ब्रह्मचारीजी चाहें इसको आगमानुकूल ही समझते

रहें परन्तु यह सर्वथा आगम के प्रतिकूल है। तथा यह भी आगम के प्रतिकूल है कि सिझाने पर कन्द मूलादि अनंतकायिक वनस्पतियों को संयमी व्रती या साधु खा सकता है क्योंकि जिस अनन्त काय के खाने का निषेध पाक्षिक श्रावकों के लिये भी आगम करता है तो वह व्रतियों के लिये स्वतः त्याज्य है। इसलिये यही मानना होगा कि कंद मूलादि अनंतकायिक वनस्पतियों को किसी भी प्रकार से न पाक्षिक श्रावकों के लिये ही खाने का विधान है और न संयमी साधुओं एवं व्रती श्रावकों के लिये ही खाने का विधान है।

जो सचित्त त्याग प्रतिमा के निरूपण में कंदमूलादि वनस्पतियों का नामोल्लेख किया है उसको अनंतकायवाले कंदमूलादि न समझकर एकवृक्षादि के अंगभूत कंद कहिये पेड़, मूल कहिये जड़, शाक कहिये पत्र, शाखा कहिये डाली, करीर कहिये कोंपल और फूल फल बीज ऐसा समझना चाहिये। जिनका पांवों से स्पर्श करना भी व्रती के लिए अपराध है उन्हें त्यागी व्रती पका कर अथवा छिन्न भिन्न करके खाय और अनन्त कायिक कंद मूलादिक वनस्पतियों को व्रती सिझाकर खाय यह तो अनर्थ है? जो सचित्त त्याग प्रतिमा के निरूपण में कंदमूलादि वनस्पतियों का आचार्यों ने कथन किया है यह सामान्य कथन है। सामान्य रूप से ही यह बताया है कि इनको कच्ची न खाय। कच्ची से मतलब है सजीव वनस्पति से या योनिभूत सचित्त से या दोनों प्रकार की वनस्पतियों से। जिस में यह दोष न होतो वह पक्की है, प्रासुक है, अचित्त है, उसके खाने में किसी भी प्रकार का दूषण नहीं है। इसलिये वहाँ पर ऐसा

समझना चाहिये की जिन वनस्पतियों का नामोल्लेख किया गया है उनमें से जो वनस्पतियाँ निर्जीव हैं और जिनको शाकादिक के काम में नहीं लेनी हैं तो सिझाने की कोई जरूरत नहीं। ऐसे ही छिन्न भिन्न या मर्दित करके खावे तो इसका निषेध नहीं है किन्तु विधान है। इसका खुलासा "सुक्क पक्क" आदि गाथा से ऊपर में किया जा चुका है। इसलिये ही वनस्पतियों को सिजाने की जरूरत नहीं है जो सिजाने के योग्य हो उसी को सिजावे और सिजाने योग्य नहीं हो उसको छिन्न भिन्न या मर्दित करके खावे। क्योंकि बहुत सो वनस्पतियाँ ऐसी हैं जो सिझाने के योग्य नहीं हैं। यदि उसको सिजाली जायगी तो उनका जो गुण या स्वाद होता है वह निकल जाता है। जैसे—नारंगी, मोसम्मी, आम, अनार, बेदाना अनार, नारियल का पानी इत्यादिक वनस्पतियों के सिझाने से उनका वास्तविक गुण और स्वाद नष्ट होकर चलित रस के समान विपरीत रसास्वाद हो जाता है। इस हालतमें उसको एक प्रकार से अभक्ष्य समझना चाहिये क्योंकि अभक्ष्य का लक्षण इसमें घटित हो जाता है अर्थात् स्वाभाविक अवस्था से विपरीत परिणमन को ही चलित रस कहते हैं और उसीका नाम अभक्ष्य है।

यहां पर यह शंका हो सकती है कि शाकादि बनाने में भी तो वास्तविक वनस्पतियों का स्वाद नहीं रहता फिर आम्ररस आदि को पकाकर खाने में स्वाद भंगका डर क्यों? समाधान—शाक योग्य वनस्पतियों का स्वाद नष्ट नहीं होता बल्कि उनकी खानेकी विधि ही यह है। परन्तु आम आदि वनस्पतियों का माधुर्य मीठा

आदि स्वाद अथवा प्राकृतिक गुण नष्ट हो जाता है और उनके खाने की विधि भी वैसी नहीं है जैसी शाक की है। वस्तुओं का अलग २ स्वभाव है, जिसका कौन क्या करे। सब चीजों की एक सी व्यवस्था होनी चाहिये ऐसा मानना विवेक-शून्यता है। सचित्त त्याग प्रतिमा के निरूपण में अन्य आचार्यों ने भी वनस्पतियों को प्रासुक करके खाने का ही विधान किया है।

वसुनंदिश्रावकाचारे:—

जंवज्जिजदि हरियं तवपत्तपवालकंदफलवीयं।
अप्फासुगं च सलिलं सचित्तणिवित्तिमं ठाणं॥

भावार्थ:—हरित अंकुर, पत्र, फल, कन्द वीज और अप्रासुक सचित्त जलादि वस्तुओंको जो सेवन नहीं करता सो पंचम प्रतिमा धारी श्रावक है। इसका एकाधिकरण किस प्रकार किया जायगा? यदि कहा जाय कि अप्रासुक शब्द का अर्थ हम कच्चाही करेंगे, इस-लिये सब को अग्नि पक्क कर के ही सचित्त त्यागी व्रती खाने के काम में लेगा परंतु इस प्रकार इसका भी एकाधिकरण तो होयगा परन्तु आगम में छने हुये कच्चे जल को लवंगादि द्रव्यों से प्रासुक कर के पीने का विधान सचित्त त्यागी प्रतिमाधारी श्रावकों के लिये किया है। इस हालत में इस गाथा का एकाधिकरण यही करना होगा कि उपर्युक्त पदार्थों को कच्ची अवस्था में भी प्रासुक करके सचित्त त्यागी व्रती खा सकता है। सारांश यह है कि जो पदार्थ जिस प्रकार खाने योग्य हैं उसको उसी प्रकार खावे। यह भिन्न २

पदार्थों के खाने की भिन्न २ प्रकार व्यवस्था है इसमें एकाधिकरण लगाना असंगत है। यदि एकाधिकरण करने से ही मतलब है तो सब जगह ऐसा ही अर्थ क्यों नहीं किया जाय कि खाने योग्य वस्तुओं को प्रासुक करके खाये। जो वस्तु जिस प्रकार प्रासुक हो उसको उसी प्रकार प्रासुक करले। जहां तहां सचित्त त्याग प्रतिमा के वर्णन में प्रासुक करके खाने का ही विधान मिलता है। सागार धर्मामृत में भी सचित्त त्याग प्रतिमा के निरूपण में अप्रासुक वस्तुओं के खाने का निषेध किया है:—

हरिताङ्कुर बीजाम्बुलवणाद्यप्रासुकं त्यजन्।
जाग्रत्कृपश्चतुर्निष्ठः सचित्तविरतः स्मृतः॥

भावार्थ:—पूर्वोक्त चार प्रतिमाओं का निर्दोष रीति से पालन करता जो हुआ अप्रासुक हरे अंकुर बीज जल लवणादि पदार्थो को छोड़ता है, वह दयामूर्ति श्रावक सचित्त त्याग प्रतिमा वाला माना गया है। अर्थात् इन सब को प्रासुक करके खाया पिया जाय। यहां अग्नि पक्का विधान ही नहीं। ऐसा ही रत्नमाला में शिव कोटि आचार्य ने निरूपण किया है। जो इन्द्रिय संयम बढ़ाने के लिये वनस्पति वृक्षादि के मूल (जड़), कंद (पेड़), शाखा, करीर (कोंपल), शाक (पत्र), पुष्प, फल, बीज ये आठ अंग हैं इनको जो कि कच्ची हैं (जीव सहित) अथवा योनिभूत हैं उनको नहीं खाता है और सचित्त जल कायिक जल को तथा लवण जोकि जल की पर्याय है उसको भी अचित्त किये बिना नहीं खाता है

सो पंचमाणुव्रती श्रावक है। अर्थात् आर्य पुरुष पंचम प्रतिमाधारी खाद्य जल और लवण को भी अचित्त करके ही खाता पीता है। वे स्वयं सूर्यादिक की गर्मी से, काल के निमित्त से या अन्य मनुष्यों के प्रयत्न से अचित्त (प्रासुक) हो जावे तब ही इन फलादिकों को खाते हैं अन्यथा नहीं खाते हैं। इस उपर्युक्त कथन से यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि सचित्त त्याग प्रतिमा वाला श्रावक अप्रासुक पदार्थों का भक्षण नहीं करता है। सारांश भक्षण करने योग्य पदार्थों को ही प्रासुक करके भक्षण करता है। चाहे वह पदार्थ अग्नि द्वारा प्रासुक किया गया हो चाहे वह अन्य प्रकार से प्रासुक किया गया हो, होना चाहिये प्रासुक। प्रासुक होने पर ही निर्दोष है, व्रतियों के भक्षण करने योग्य है अतः सचित्त त्यागी व्रती सब तरह की वनस्पतियों को सिझाकरही खावे अन्यथा नहीं खावे ऐसा कहना आगम विरुद्ध है, थोथा हठ है। एक भी ग्रंथ में ऐसा वाक्य नहीं मिलता कि सचित्त त्यागी श्रावक सब तरह की वनस्पतियों को सिझा करके ही खावे अन्य प्रकार से न खावे। यदि कहीं पर प्रासुक करने के हेतु से यह कह भी दिया हो कि इन को कच्चा न खावें तो यह नहीं समझना चाहिये कि अन्य प्रकार से प्रासुक करके खाने का निषेध है क्योंकि वहां पर एक भी ऐसा कोई शब्द नहीं मिलेगा जो अन्य प्रकार से प्रासुक करके खाने का निषेध करता है, प्रत्युत विधान ही मिलता है। तदुक्तं मूलाचारेः—

जहवदि अप्पिक्वीयं विवहिमं पासुयं कयं चेव।
णाऊण एसणीयं तं भिक्खं मुणि पड़िच्छन्ति॥

अतः अन्य कोई दोष न हो तो प्रासुक कीगई वनस्पति मुनिराजों के लिये भी ग्राह्य है।

इस गाथा के सम्बन्ध में ब्र० भूरामलजी लिखते हैं कि "सभी हरित काय वनस्पतियां केवल सिझालेने, उबाल लेने या भून लेने मात्र से ही मुनियों के खाने में आने लायक नहीं हो जाती। यदि सिझालेने पर भी उसमें बीज़ हों तो उन्हें बाहर निकाल देना चाहिये या उसके ऊपर किम्वा अन्दर में कोई और भी कठिन अंश हो, रेशेदार भाग होतो उसे भी हटा देना चाहिये, तभी वह मुनियों के उपयोग में आसकती है, उन्हें आहार में दी जा सकती है—ऐसा आचार्यों का कहना है। जैसे मानलो-आंवले को सिझालिया लेकिन अगर उसके भीतर से उसकी गुठली को नहीं निकाला गया तब तक वह मुनि के खाने के योग्य नहीं है। प्रथम तो गृहस्थ ही नहीं देगा अगर भूल से किसी गृहस्थ ने उनके हाथ में डाल भी दिया तो मुनि उसे खावेंगे नहीं। इसी प्रकार मूंगफली को अग्नि पर भून भी लिया लेकिन उसके ऊपर का कठिन छिलका नहीं हटाया गया तब तक वह मुनियों को नहीं दी जा सकती, ऐसा मतलब है।"

धन्य है वाणीभूषणजी! आप सचित्त अचित्त का विचार करते हैं या मुनियों के आहार की व्यवस्था बनाते हैं। क्या सिझाया हुआ आंवला सचित्त है? या सेकी हुई मूंगफली सचित्त है? व्यर्थ ही पागलपन का सा प्रलाप करना आप जैसे विद्वानों को शोभा नहीं देता। आंवले की गुठली पत्थर के समान कठिन है

इसलिये उसको पशु भी नहीं चवा सकता वे भी उसको नहीं खाते तथा छिलके सहित मूंगफली को तो पशु ही खाते हैं मनुष्य नहीं खाते। मनुष्य तो छिलका दूर करके ही मूंगफली को खायगा, तथा आंवले की गुठली निकाल करके ही आंवला खायगा फिर उसको मुनि नहीं खाते ऐसा लिखने से सचित्त विषय की कौनसी सिद्धि हुई। यदि सिझाया हुआ आंवला गुठली सहित भूल से कोई गृहस्थ मुनिराज के हाथ में धरदेगा तो क्या मुनिराज अंतराय कर जायेंगे? क्योंकि सचित्त पदार्थ अंगुली में उग जाने से मुनियों को अंतराय मानना पड़ता है। यदि अंतराय नहीं करते हैं तो वह सचित्त नहीं है उसको हाथ में दबा करके रखलेगा और आहार शेप होने पर उसको गिरा देगा, ऐसा ही देखने में आया है और विधान भी ऐसा ही है। सिझा या हुआ वीजादिक प्रासुक है ऐसा आपने अपनी पुस्तक में स्वीकार किया है तथा तुरई वगैरह का साग वीजों सहित होता है और उसको संयमी खाते हैं फिर यहां पर ऐसा क्यों कहा गया है कि बनस्पति को सिझालेने पर भी संयमियों के खाने योग्य तवतक नहीं है जव तक की उसमें से वीजों को अलग न कर लिया गया हो? जब सिझा हुआ वीज प्रासुक है तव उसको अलग करने की क्या आवश्यकता है? जो वीज कठिन है खाने में नहीं आ सकता है उसको तो गृहस्थ ही सिझाने के पहिले ही अलग करदेगा क्योंकि अच्छी तरह सोध वीन किये विना गृहस्थ भोजन तैयार करता ही नहीं, फिर सचित्त विचार में इस प्रकार के विचार की आवश्यकता ही क्या है? केवल विचार

करना चाहिये सचित्त के सम्बन्ध का, जिसका तो कोई विचार ही नहीं। बिना प्रयोजन अप्रसंग व्यर्थ बातें लिखमारी हैं "कालश्चाग्निश्च यंत्रं च कालाग्नियंत्राणि तैः पक्वानि। इसका समास करके बताते हैं कि काल, अग्नि, यंत्र इन तीनों के साथ पृथक् २ भी अर्थ लगा सकते हैं, पर ऐसा अर्थ लगाना ठीक नहीं, एतावता यह अर्थ लगाना ठीक है। जैसे जो फल या बीज काल के द्वारा पककर अपनी ठीक अवस्था में आ चुका है और जिसका यंत्र के द्वारा निःसार भाग कठिन भाग हटादिया गया है और जिसको अग्नि पर पका भी लिया गया है तब ही वह फल या बीज खाने के काम का होता है, सिर्फ काल पक्व मात्र होने पर नहीं"। क्या इसका नाम सचित्त विचार है? या खाने की व्यवस्था का विचार है। इसमें तीनों जगहों पर "च" शब्द आया है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि काल पक्व ग्राह्य है तथा अग्नि पक भी ग्राह्य है एवं यन्त्र द्वारा छिन्न भिन्न किया हुआ भी ग्राह्य है, अचित्त है, प्रासुक है। आपने जो यह लिखा है कि "जिसका यंत्र द्वारा निःसार और कठिन भाग हटा लिया गया है" वह कौन से यंत्र द्वारा हटाया गया है कोल्हू या चक्की से? क्योंकि आपने इसी को यंत्र माना है। चाकू या छुरी को तो आप ने यंत्र नहीं माना उसको तो शस्त्र माना है। इस हालत में कोल्हू या चक्की के द्वारा ही फल या बीज का निस्सार भाग हटाना चाहिये, परन्तु जिसको धुन सवार हो जाती है उसको आगे पीछे का विचार नहीं रहता कि मैं क्या कह रहा हूं। अग्नि पक्व की पुष्टि में सचित्त विचार ट्रैक्ट के पेज १२ वें में सचित्त

त्यागी व्रती के सम्बन्ध की एक गाथा दी है, वह कहां की है सो कुछ नहीं लिखा पर इससे यह सिद्ध किया है कि कंद मूलादि अनन्त काय को भी सचित्त त्यागी व्रती अग्नि पक्क कर के खा सकता है।

"जो पुण सचित्त विरदो कंद मूलं फलं व पत्त वा।
जंकिंचिवि हरिदगं अणग्नि पकंण गिहादी॥"

(ब्रह्मचारीजी लिखते हैं)

"इसका मतलब बिल्कुल स्पष्ट है कि जो सचित्त खाने का त्यागी कन्दमूल फलपत्ते इत्यादि किसी भी प्रकार के हरित काय को, वनस्पति के हिस्से को विना अग्नि पक्किये नहीं खाया करता है" इस पर यह शंका भी उठाई है कि आपने कन्दमूल को भी उबालकर खा सकने के लिये लिखा है, सो हमारी समझ में नहीं आता। हमलोगों ने सुना है कि कंदमूल तो बिल्कुल अभक्ष्य हैं क्योंकि अनन्त काय हैं। सागार धर्मामृत भी "अनन्त कायाः सर्वेऽपि सदा हेया दयापरैः" इस प्रकार लिखा है। देखिये सागार धर्मामृत के उपरोक्त वाक्य का भी यही मतलब है। "इससे अधिक और ब्रह्मचारीजी क्या कहेंगे ? आगम तो अनन्तकाय को पैर से भी छूने का निषेध करता है और ब्रह्मचारीजी व्रतियों के लिये भी उन अनन्तकाय को हाथ से उबाल कर खाने का विधान करते हैं। धन्य है जो आगम के रहस्य को चौपट करदिया। अर्थात् व्रतियों के लिये तथा संयमी साधुओं के लिए कंदमूलादि उबाल कर खाने का विधान बता दिया है। इसके सम्बन्ध में हम ऊपर अच्छी तरह

प्रकाश डाल चुके हैं कि व्रती श्रावक अनन्तकाय वनस्पति को पैरों से छूने में ही अपने को महान् अपराधी मानता है तो उस अनन्त काय वनस्पति को हाथ से उबालकर किस प्रकार खा सकता है ? अर्थात् नहीं खा सकता है। तो भी एक प्रमाण आदिपुराणजी का यहां इस सम्बंध का दे देते हैं। जब भरत महाराज ने व्रतियों की स्थापना की थी उस समय का है—

"सन्त्येवानन्तशो जीवा हरितेष्वंकुरादिषु।
निगोता इति सर्वज्ञदेवैःह्यभिश्रुतं वचः॥"

व्रतियों की (ब्राह्मणोंकी) स्थापना के समय भरतजी ने उन श्रावकों से पूछा कि तुम इस हरितांकुर पर से क्यों नहीं आये ? तब उन श्रावकों ने जबाव दिया कि हे राजन्! हमने आगम में सुना है कि हरितांकुर में अनन्त निगोदिया जीव रहते हैं इसलिये हम हरितांकुर परसे होकर नहीं आये। सारांश यह है कि व्रती श्रावक जब अनन्त काय वनस्पति को पैरों से भी नहीं छूना चाहता है तो फिर वह व्रती उस अनन्तकाय वनस्पति को हाथ से उबालकर खायेगा यह किस प्रकार कहा जा सकता है ? वह अग्नि द्वारा उस वनस्पति को ही उबालकर खायगा जो वनस्पति निर्जीव है या योनिभूत सचित्त है। इसके अतिरिक्त अन्य वनस्पतियों को उबालकर के भी व्रती श्रावक नहीं खायगा। जो भाई कंद मूलादि अनन्त कायिक वनस्पतियों को उबालकर खाने का व्रतियों के लिये विधान करते हैं वह आगम से सर्वथा विपरीत हैं इसका खुलासा सप्रमाण ऊपर किया जा चुका है। अब अधिक लिखने की जरूरत नहीं है।

पंडित भूरामलजी ने लिखा है कि "१५-२० वर्ष से काल पक्क आम आदि फलों को सचित्त त्यागी एवं संयमी लोग खाने लगे हैं सो अनुचित है एवं वनस्पति कायिक जीवों की अवगाहना का भी ध्यान छोड़ दिया है। वनस्पति कायिक जीव की अवगाहना पर तो ध्यान देना चाहिये।" उक्त पंडितजी की सब बातों का पहले आगम प्रमाण से समाधान किया जा चुका है। वे तथा अन्य दुराग्रही लोग न मानें इसका उपाय तो कुछ है नहीं। वास्तव में स्वयं पंडितजी ने जो लिखा है वह सब आगम और युक्ति से रहित है। आगम और युक्ति किधर है सो निष्पक्ष विवेकी स्वयं विचार करें।

जब विद्वान लोगों के हृदय में भी कषाय और दुराग्रह पूरा स्थान पालेते हैं तब वे तत्त्वविमर्शको छोड़ अपने कषाय और दुराग्रह की पुष्टि में लग जाते हैं। आज कल जो बहुत सी अन्यथा प्रवृत्तियां एवं आगम विरुद्ध प्रणालियां चल रही हैं वे सब इसी दुराग्रह और कषाय पूर्त्ति के ज्वलंत नमूने हैं। जिन लोगों के हृदय में दुराग्रह और कषाय रूपी भूत घुस रहा है उनको तो कोई कितना भी समझावे और कितने ही आगम प्रमाण भी दिखलावें परन्तु वे मानने को तैयार नहीं। परन्तु जो निष्पक्ष विवेकशील सज्जन हैं उनसे मेरा अनुरोध है कि वे तथ्यातथ्य का आगम प्रमाणों और बुद्धि से भी निर्णय करें।

पंडित भूरामलजी शास्त्री विद्वान् अवश्य हैं परन्तु उनके हृदय में दुराग्रह और कषाय का भूत घुस गया है। इसीलिए कंद

मूल तक को सिझाकर खाने के लिए संयमियों तक को सलाह देते हैं और कालपक्क आम्रादि फलों में भी अनंत कायिकों की कल्पना कर उनको सिझाकर कचूमर निकाल कर खाने की सलाह देते हैं। कालपक्क आम्रादि फल सर्वथा निर्जीव होते हैं। गुठली हटादेने से योनिभूत रूप सचित्तता भी जाती रहती है तो भी उनके रस को आगम में सिझा कर खाना कितना प्रकृति विरुद्ध और व्यवहार-विरुद्ध है। कालपक्क फल के गूदे या रस आदि में अनंत कायिक जीवराशि मानना और फिर उस जीवराशि को सिझाकर खाजाना सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र दोनों के ही विपरीत क्रिया है। सम्यग्ज्ञान के विरुद्ध तो ऐसी समझ प्रत्यक्ष ही है।

कालपक्क आम आदि फल अप्रतिष्ठित प्रत्येक हैं। वृक्ष से टूटने पर योनिभूतता के अतिरिक्त अचित्त भी हैं अर्थात् निर्जीव हैं, यह पहले आगम प्रमाणों से वतलाया जा चुका है। गोम्मटसारजी में पृष्ठ ४२७ पर लिखा है कि—

"तद्विपरीतं गूढसिरात्वादिपूर्वोक्तलक्षणरहितं तालनालिकेरतितिणिकादिशरीरं अप्रतिष्ठितप्रत्येकशरीरमितिविभागं"

टीका—बहुरि तद्विपरीतं कहिये पूर्वोक्त गूढसिरा आदि लक्षण रहित नालिकेर आम्रादि शरीर अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर जानने॥ गाथा १८८॥

आम आदि फलोंको अचित्त मानने में इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है। प्रत्येक वनस्पति को सिझाकर खाने की प्रवृत्ति तो ५–७ वर्ष से आप लोगों की कृपा से ही कहीं कहीं चल पड़ी है। वाकी सनातन परिपाटी तो यही है कि कालपक्व वनस्पति को बीज रहित (अयोनिभूत) करके खायाजाय। भगवान् ऋषभ-देवने भी इक्षुरस का जो आहार लिया था वह इक्षुरस सिझाया हुआ नहीं था। आज भी प्रायः सभी मुनिराज, ऐलक, क्षुल्लक आदि सभी विना सिझाये हुये ही लेते हैं। जो विवेक हीन हैं वे ही आपके चक्कर में चढ़ कर भले ही सीझे हुये आम्ररसादि लेते हों? वाकी सारे ही अभीतक विवेक हीन नहीं हुये हैं।

कुछ फलों के रस ऐसे भी हैं जिनको गर्म करने तथा मीठा डालने पर मादक भी हो जाते हैं। जैसे नारंगी के रस में बूरा डालकर उसे धूप या आंच में रखदिया जाय तो असंख्य जीवराशि पैदा हो जाती है और उसका सेवन आसव, अरिष्ट अथवा मदिरा जैसा मादक वन जाता है। कितने खेद की वात है कि भूरामलजी शास्त्री जैसे व्रती वृद्ध ब्रह्मचारी भी कषाय या दुराग्रहवश स्वयं भी व्रतियों को भी मादक पदार्थ सेवन करने की सम्मति देते हैं। उन्होंने यह सम्मति देते समय यह नहीं सोचा कि आग में पकाने से अनेक फलरस मादक भी हो जाते हैं।

आज से अनुमान ७०० वर्ष पहले श्री० पंडित मेधावी होगये हैं। उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध धर्मसंग्रह श्रावकाचार में लिखा है कि—

"कालाग्नियंत्रपक्वानि फलबीजानि भक्षति" इस कालाग्नि पदका समास यों किया है कि—"कालश्च अग्निश्च, यंत्रं च" तैः पक्वानि" जिसका अर्थ है कि कालपक्व, अग्निपक्व और यंत्रपक्व भी फल बीज भक्षण करने योग्य हैं। इस पर भूरामलजी शास्त्री ने यह शंका की है—"यदि कालपक्व फल भक्ष्य ठहरता है तो बीज भी कालपक्व भक्ष्य होना चाहिये परन्तु बीज कालपक्व भी भक्ष्य होता नहीं। इसलिए यह अर्थ होना चाहिये कि फल बीज कालपक्व हो जाने के बाद यंत्र द्वारा कठिन या निःसार भाग को हटाकर अग्निद्वारा पका लिया जाय तभी भक्ष्य होता है केवल कालपक्व नहीं" परन्तु बाबा भूरामलजी का यह कहना सर्वथा अनुचित है क्योंकि आगम में काल, अग्नि और यंत्र द्वारा पक्व इस तरह तीनों प्रकार से ही प्रासुक माना है। कालपक्व बीज भी अचित्त है, वह योनि भूत होने से छिन्न भिन्न होने पर या अग्नि पक्व होने पर ही संयमी व्रती द्वारा भक्ष्य होता है। बीज कूट पीस कर भी अग्नि पक्व न होने पर भी योनिभूतता से रहित हो जाते हैं। धनिया, मिर्च, जीरा आदि जैसे पदार्थ कूटने पीसने पर अचित्त तथा व्रतियों के भक्ष्य हो जाते हैं। ऐसे पदार्थों को पिसा होने पर खाने का कहीं निषेध नहीं है। अतः बीज अग्नि पक्व न होने पर कूटने पिसने पर भी अचित्त और भक्ष्य नहीं है ऐसा समझना विवेक हीनता और महा मूर्खता का द्योतक ही कहा जायगा। जिस प्रकार यंत्र (सिला लोढी ओंखली) आदि द्वारा योनिभूत बीज धनिया मिर्च जीरा आदि छिन्न भिन्न होने पर व्रतियों के भक्ष्य होजाता है उसी प्रकार

कालपक्क फल भी यंत्र द्वारा छिन्न भिन्न करने पर व्रतियों के लिए भक्ष्य क्यों नहीं ? अतः यह मानना कि बीज बिना अग्निपक्व हुये भक्ष्य नहीं, ऐसा समझना अविवेककी परा काष्ठा है।

अब अवगाहना के विषय में भी निष्पक्ष विवेकशील सज्जन समझ लेने की कृपा करें। श्री गोम्मटसार की हिन्दी वचनिका में स्व० पंडित टोडरमलजी साहब लिखते हैं कि—

इन्द्रिय आश्रय करि उत्कृष्ट अवगाहनानिका प्रमाण अर तिनि के स्वामी को निर्देश करैं हैं—

साहियसहस्समेकं वारं कोसूणमेकं य।
जायणसहस्सदीहे पम्मेविमले महामच्छे ॥ ८५ ॥

टीका—एकेन्द्रियेषु स्वयंभूरमणद्वीपमध्यवर्त्तिस्वयंप्रभाचलापर भागस्थितक्षेत्रोत्पन्नपद्मे साधिकसहस्रयोजनायामैकयोजनव्यासोत्कृष्टावगाहो भवति। द्वीन्द्रियेषु तत्स्वयंभूरमणसमुद्रवर्त्तिशंखे द्वादशयोजनायामयोजनपंचचतुर्थसोत्सेधचतुर्योजनमुखव्यासोत्कृष्टावगाहो भवति। त्रीन्द्रियेषु स्वयंभूरमणद्वीपापरभागवर्त्तिकर्मभूमिप्रतिबद्धक्षेत्रे रक्तवृश्चिकजीवे योजनत्रिचतुर्भागायामतदष्टमांशव्यासतदर्धोत्सेध उत्कृष्टावगाहोऽस्ति। चतुरिन्द्रियेषु स्वयंभूरमणद्वीपापरभागकर्मभूमिप्रतिबद्धक्षेत्रवति भ्रमरे एक योजनायामतत्त्रिचतुर्भागव्यासोऽर्धयोजनोत्सेध उत्कृष्टावगाहोऽस्ति। पंचेन्द्रियेषु

स्वयंभूरमणसमुद्रवर्त्तिमहामत्स्ये सहस्रयोजनायामपंचाशद्योजन-व्यासपंचाशदग्रद्विशतयोजनोत्सेधोत्कृष्टावगाहोऽस्ति ।

भावार्थ–एकेंद्रियनि विषैं स्वयंभूरमण द्वीप के मध्य वर्ती जो स्वयंप्रभ नामा पर्वत ताका परला भाग संबंधी कर्मभूमि रूप क्षेत्र विषैं उपज्या ऐसा जो कमल तींहिविषैं किछु अधिक एक हजार योजन लंवा एक योजन चोड़ा ऐसा उत्कृष्ट अवगाह है। बहुरि द्वींद्रियनि विषैं तिहि स्वयंभूरमण समुद्र वर्ती शंख विषैं बारह योजन लम्बा एक योजन का पांच चौथा भाग ५/४ प्रमाण चौड़ा चार योजन मुख व्यास करि युक्त ऐसा उत्कृष्ट अवगाह है। वहुरि त्रींद्रियनि विषैं स्वयंभू रमण द्वीप का पहला भाग विषैं जो कर्मभूमि सम्बंधी क्षेत्र है तहां एक बीछू जीव है, ति.ह विषैं एक योजन का तीन चौथा भाग प्रमाण 3/४ लम्बा लम्बाई के आठ वें भाग 3/३२ चौड़ा चौड़ाई तैं आधा 3/६४ ऊंचा ऐसा उत्कृष्ट अवगाह है। वहुरि चतुरिंद्रियनिविषैं स्वयंभू रमण द्वीपका परला भाग वर्ती कर्म भूमि सम्बन्धी क्षेत्र विषैं भ्रम रहै सो तिहिं विषैं एक योजन लम्बा पौंन योजन चौड़ा 3/४ आधा योजन १/२ ऊंचा उत्कृष्ट अवगाह है। वहुरि पंचेंद्रियनि विषैं स्वयंभू रमण समुद्र के मध्यवर्ती महामच्छ तींहि विषैं हजार योजन लम्बा पांच सै योजन चौडा अढाई सौ योजन ऊंचा उत्कृष्ट अवगाह है। ऐसे कहै जे योजन रूप धन फल तिनि के प्रदेशनिका प्रमाण किये एकेंद्रिय कै चारवार संख्यात गुणा घनांगुल प्रमाण, द्वींद्रिय कै तीनवार संख्यातगुणाघनांगुल प्रमाण,

द्वींद्रिय के एक वार संख्यात गुणांघनांगुल प्रमाण, चतुरिंद्रिय कैं दोय वार संख्यात गुणाघनांगुल प्रमाण, पंचेंद्रियकै पांच वार संख्यात गुणां घनांगुल प्रमाण प्रदेशनिका उत्कृष्ट अवगाहना विषैं हो है। (हिन्दी टीका पं० टोडरमलजी कृत)

इस प्रकार उत्कृष्ट अवगाहना का निरूपण किया गया है। जो एक जीव के शरीर की अवगाहना है। जिस प्रकार द्वींद्रिय आदि पंचेंद्रिय पर्यन्त जीवों की उत्कृष्ट अवगाहना एक एक जीव संबंधी है उसी प्रकार एकेन्द्रिय जीवों में भी एक वनस्पति कायिक जीव की ही है। यह नहीं हो सकता कि द्वीन्द्रियादिक में तो एक एक जीव की हो और वनस्पति कायिक में अनेक जीवों की मिलकरके हो ? अवगाहना एक जीव के शरीर की ही बतलाई जाती है, अनेक जीवों के शरीर की मिलाकर नहीं।

उक्त टीका में और भी स्पष्ट करदिया है—

अनेन प्रकारेण एकस्यामेव पंक्तौ सूक्ष्म पर्याप्तकवायुतेजोऽप्कायिकानां पुनर्बादरपर्याप्तवायुतेजोऽप्पृथ्वीकायिकनिगोदप्रतिष्ठितप्रत्येकजीवानां च स्वस्वजघन्यावगाहनस्थानमादिं कृत्वा स्वस्वोत्कृष्टावगाहनपर्यन्तं प्रत्येकं स्थानद्वयस्य चत्वारि चत्वारि शून्यानि लिखितानि एवमेव प्रतिष्ठित प्रत्येकोत्कृष्टावगाहनस्थानादग्रे तत्पंक्तावेव अप्रतिष्ठितप्रत्येकपर्याप्तक जघन्यावगाहन स्थानादि तदुत्कृष्टावगाहनस्थान पर्यन्तत्रयोदश स्थानानांषड्विंशति शून्यानि लिखितव्यानि ।

भावार्थ यह है कि—पूर्वै अवगाहना के स्थान कहे तिनिविषैं जिसका जघन्य स्थान जहां कह्या होय तहांतैं एक एक प्रदेश की वृद्धि का अनुक्रम लिये जहां तिस ही का उत्कृष्ट स्थान कह्या होय तहां पर्यन्त भेद होय ते सर्व ही भेद तिस जीव की अवगाहना के जानने (गोमट्टसार हि० टी० २७०-२७१ पृ०)

इस से अधिक और क्या खुलासा होगा ? इस से स्पष्ट है कि वनस्पतिकायिक एव जीव की उत्कृष्ट अवगाहना कुछ अधिक एक हजार योजन लंबी और एक योजन चौड़ी है। जो स्वयंप्रभ नामा पर्वत के परले भाग संबंधी कर्मभूमि क्षेत्र में उपजे हुये कमल की होती है।

ब्र० भूरामलजी ने शंका की है कि—अप्रतिष्ठित प्रत्येक जीव की मध्यम और उत्कृष्ट अवगाहना भी तो बतलाई गई है ऐसी हालत में जो नये फूल पत्ते आदि आते हैं वे कैसे बन सकते हैं।

उत्तर—जैसे मनुष्य के शरीर में मांसवृद्धि, फोड़ा, मेद आदि की वृद्धि होजाने पर भी समस्त मनुष्य शरीर में एक ही जीव होता है।

प्रश्न—मनुष्य शरीर गर्भज है। गर्भ के विना उत्पन्न नहीं होता। इसलिए मांस वृद्धि आदि उसी शरीर का भाग हो सकता है परन्तु वनस्पति शरीर तो सम्मूर्छनज है। तथा पूर्व स्कंध अप्रतिष्ठित प्रत्येक जीव शरीर है जो नया पत्ता आदि आता है वह

साधारण सप्रतिष्ठित अवस्था में कुछ कालतक रहता है अतः गर्भज तथा सम्मूर्छनज में बडा भेद है।

उत्तर—क्या गर्भज का दृष्टांत सम्मूर्छन के लिए नहीं दिया जा सकता ? यदि नहीं दिया जा सकता होता तो सर्वार्थ सिद्धिकार पूज्यपाद स्वामी ने पंच स्थावरों के चार चार भेदों में दूसरे भेद को मृतक मनुष्यादिवत् क्यों बतलाया ? दृष्टांत के लिए तो दूसरी चीज ही उपयुक्त होती है तोभी मैं आपको संतोषार्थ सम्मूर्छनजका ही दृष्टांत देताहूं। द्वींद्रियादि जीवों से लेकर पंचेंद्रिय महामत्स्य पर्यंत जीव सम्मूर्छन भी होते हैं और उनका शरीर भी औदारिक ही होता है तथा पंच स्थावरों का शरीर भी औदारिक ही है। इस औदारिक की अपेक्षा तीनों में समानता है। जिस प्रकार द्वीन्द्रि-याादि महामत्स्यांत पंचेन्द्रिय जीवों के शरीर में विभिन्नता है उसी प्रकार वनस्पति कायिक जीवों के शरीर में भी विभिन्नता है। जैसे द्वीन्द्रियादि संज्ञी पंचेन्द्रिय तक जीवों का शरीर उत्पत्ति काल से लगाकर अंतिम अवस्थातक बढ़ता रहता है वैसे वनस्पति कायिक जीवों का शरीर भी उत्पत्ति काल से लगाकर अवस्थाशेपता तक वृद्धिगत होता रहता है। जिस प्रकार मयूर आदि जीवों के पंख रोमादि पुराने झड़ते रहते हैं और नये आते रहते हैं उसी प्रकार वृक्षादि शरीर में पुरातन फूल पत्ते झड़ते रहते हैं और नये पैदा होते रहते हैं। इस प्रकार सम्मूर्च्छनज के लिए सम्मूर्च्छनजका दृष्टांत भी सुचारुरूप से घटित हो जाता है।

अवगाहना संबंधी उत्तर आगम प्रमाण से दिया गया है। जब आगम प्रमाण सामने आजाने पर आप विवश होगये तो नये फूल पत्ते कैसे आते हैं, यही शंका खड़ी कर दी। परन्तु उसका समाधान हो जाने पर अब क्या कहेंगे ?

आपने प्रत्येक वनस्पतिका शरीर घनांगुल के असंख्यातवें भाग बतलाया है तथा उसकी सुबूत में श्री गोम्मटसार का प्रमाण दिया है परन्तु यह बात गलत है। न तो प्रत्येक वनस्पतिका उत्कृष्ट शरीर घनांगुल के असंख्यातवें भाग ही होता है और न श्री गोम्मटसार में ही ऐसा बतलाया है कि एक वृक्ष अनेक जीवों का शरीर मिलकर बनता है। हां, एक पेड के आश्रित अनंत जीव भी रहते हैं परन्तु वे समूचे पेड के एक जीव से अलग किन्तु उसके आश्रित रहते हैं। यह स्पष्टतया बतलाया जा चुका है।

अपनी पुस्तिका में उक्त वाबाजी एक जगह तो यह लिखते हैं कि पेड में जुदे, पत्ते में जुदे, पुष्प में जुदे और फल में जुदे ही जीव होते हैं" एवं दूसरी जगह और ही कुछ लिखते हैं सो विचारणीय है। श्री गोमट्टसार में प्रत्येक वनस्पति कायिक जीव के शरीर की सर्वोत्कृष्ट अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भाग नहीं वतलाई है किन्तु प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति के शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भाग वतलाई है। वावाजी ने जो प्रमाण वतलाया है वह प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति के संबंध में है और जो अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कायिक के

आश्रित रहता है। अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति की सर्वोत्कृष्ट अवगाहना तो एक हजार योजन से भी कुछ अधिक है जो ऊपर अच्छी तरह बतलाया जा चुका है। अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कायिक जीव की जघन्य अवगाहना प्रतिष्ठित प्रत्येक से असंख्यातवें भाग गुणी होती है।

स्व० पंडित टोडरमलजी ने गोम्मटसार की हिन्दी टीका में लिखा है कि—

"यातैं बादर निगोद पर्याप्तक का जघन्य अवगाहन पल्य का असंख्यातवां भाग गुणा है। यातैं बादर निगोद अपर्याप्त का उत्कृष्ट अवगाहन विशेष अधिक है। यातैं बादर निगोद पर्याप्त का उत्कृष्ट अवगाहन विशेष अधिक है। यातैं प्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्त का जघन्य अवगाहन पल्य के असंख्यातवें भाग गुणा है, यातैं प्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्त का उत्कृष्ट अवगाहन विशेष अधिक है। ऐसे सतरह अवगाहन स्थाननिको उलंघि पूर्वोक्त प्रकार अपवर्त्तन किये सतरहवां बादर पर्याप्त प्रतिष्ठित प्रत्येक का उत्कृष्ट अवगाहन होय बार पल्य का असंख्यातवां भाग अर नौवार संख्यातवां भाग जाकूं दीजिए, ऐसा घनांगुल प्रमाण होय है। बहुरि यातैं अप्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्त का जघन्य अयगाहन पल्य का असंख्यातवां भाग गुणा है। इहां भी अपवर्तन करना। बहुरि यातैं बेइन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य अवगाहन पल्य का असंख्यातवां भाग गुणा है। इहां भी अपवर्तन किये पल्यका असंख्यातवां भाग का

भागहार रह्या बहुरि यातै तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय पर्याप्तनि के जघन्य अवगाहन क्रमतैं पूर्व पूर्वतै संख्यात संख्यात गुणा है। तातैं तेइंद्रिय अपर्याप्त का उत्कृष्ट अवगाहन संख्यात गुणा है; यातैं चौइन्द्रिय अपर्याप्त का उत्कृष्ट अवगाहन संख्यात गुणा है। यातैं वेन्द्रिय अपर्याप्त का उत्कृष्ट अवगाहन संख्यात गुणा है। यातैं अप्रतिष्ठित प्रत्येक अपर्याप्त का उत्कृष्ट अवगाहन संख्यात गुणा है। यातैं पंचेन्द्रिय अपर्याप्त का उत्कृष्ट अवगाहन संख्यात गुणा है। ऐसे एक एक बार संख्यात का गुणाकार करि नववार संख्यात का भागहार विषै एक एक बार का अपवर्तन करतैं पंचेन्द्रिय अपर्याप्त का उत्कृष्ट अवगाहन एक बार संख्यात करि भाजित घनांगुल प्रमाण हो है। बहुरि यातैं त्रीन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट अवगाहन संख्यात गुणा है सो अपवर्तन करिये। इहां गुणाकार के संख्यात का भागहार के संख्यात का प्रमाण तैं बहुत है, तातैं त्रीन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट अवगाहन संख्यात गुण घनांगुल प्रमाण है। यातैं चौइन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट अवगाहन संख्यात गुणा है यातैं द्वे इन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट अवगाहन संख्यात गुणा है यातैं अप्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्त का उत्कृष्ट अवगाहन संख्यात गुणा है। यातैं पंचेन्द्रि पर्याप्त का उत्कृष्ट अवागहन संख्यात गुणा है।

"इस प्रकार अवगाहना का स्वरूप गोम्मटसार में बतलाया है अर्थात् वादर निगोद पर्याप्त की जघन्य अवगाहना से वादर निगोद

अपर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहन विशेष अधिक है तथा इससे विशेष अधिक वादर निगोद पर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना है। तथा इससे पल्य के असंख्यातवें भाग गुणी अधिक प्रतिष्ठित प्रत्येक की जघन्य अवगाहन है इससे विशेष अधिक प्रतिष्ठित प्रत्येक अपर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहन है तथा इस से भी विशेष अधिक प्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहन है। इस प्रकार सतरह अवगाहन का स्थान को उलंघन करने से वादर पर्याप्तक प्रतिष्ठित प्रत्येक का उत्कृष्ट अवगाहन घनांगुल को दोयवार पल्य का असंख्यातवां भाग तथा नौवार संख्यातवां भाग देने से जो घनांगुल अवशेप रहै उस प्रमाण है तथा इससे पल्य का असंख्यातवां भाग गुणा अवगाहन पर्याप्तक अप्रतिष्ठित प्रत्येक का है। इस के आगे वेन्द्रिय त्रीन्द्रिय चौइन्द्रिय पर्याप्त की जघन्य अवगाहना तथा इनकी अपर्याप्तक अवस्था की उत्कृष्ट अवगाहना तथा इनकी पर्याप्तक अवस्था की उत्कृष्ट अवगाहना अधिकाधिक है इन सब से अधिक अप्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्त की अवगाहना है तथा इन से अधिक पंचेन्द्रिय पर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना है और किसी-भी कायिक को अप्रतिष्ठित प्रत्येक से अधिक अवगाहन नहीं है।

इस तरह आवगाहना आदि पर विचार करने से भी वावाजी भूरामलजी का कहना सर्वथा आगम और युक्ति से असंगत ठहरता है। जिस अवगाहना से वावाजी विचार करने को कहते हैं उस अवगाहना से भी उनका अभिमत सिद्ध नहीं होता किन्तु

सर्वथा असिद्ध ही ठहरता है। इन सब प्रमाणों तथा युक्तियों से भी सुचारु रूप से यही सिद्ध होता है कि संपूर्ण वृक्षका मूल स्वामी एक ही जीव है। उसके कोमल नये अंगों में अनेक आश्रित सप्रतिष्ठित प्रत्येक जीव रहते हैं। जब उसके अंगोंमें कठोरता आजाती है तब वे आश्रित जीव वहाँ से निकल जाते हैं या नष्ट हो जाते हैं। अतः जिनकी यह धारणा है कि एक पेड के अनेक जीव मालिक होते हैं और मालिक होकर रहते हैं वह सर्वथा गलत है। उनकी इस गलत धारणा का पोषक न आगमवाक्य ही है और न युक्ति ही है एवं न वह गलत धारणा अवगाहना प्रमाण से ही सिद्ध होती है।

इन सब प्रमाणादि से यह सिद्ध होता है कि बाबा भूरामलजी द्वारा बतलाया हुआ मार्ग सिन्द्धात नहीं किन्तु केवल दुराग्रह और कषाय का पोषण ही है।

अब यहां प्रसंगोपान्त वनस्पति के भेद प्रभेद को भी बता देना उचित समझते हैं जिससे कि और भी विशेष खुलासा हो जाय। साधारण वनस्पति और प्रत्येक वनस्पति क्या हैं तथा उनके कितने भेद हैं सो समझ लेना चाहिये।

उदय दु वणप्फदिकम्मस्स य जीवा वणप्फदी होंति।
पत्तेयं सामण्णं पदिट्ठिदिदरेति पत्तेयं ॥ १८५ ॥

(श्री गोम्मटसार)

टीका—वनस्पतिविशिष्टस्थावरनामकर्मोत्तरोत्तरप्रकृत्युदये तु-पुनः जीवा वनस्पतिकायिका भवंति। ते च प्रत्येकशरीराः सामान्य शरीरा इति द्विविधा भवंति। एकं प्रतिनियतं प्रत्येकं एकजीवस्य एक शरीर मित्यर्थः। प्रत्येकं शरीरं ये पांते प्रत्येक शरीराः। समानमेव सामान्यं। सामान्यं शरीरं ये पांने सामान्य शरीराः, साधारण शारीराः इत्यर्थः। तत्र प्रत्येक शरीराः प्रतिष्ठिताप्रतिष्ठितभेदाद् द्विविधाः इति शब्दोऽत्र प्रकारवाची। बादरनिगोदैराश्रिताः प्रतिष्ठिताः तैरनाश्रिताः अप्रतिष्ठिता इति तयोर्भेदावगमनात्।

"भावार्थ-वनस्पति रूप विशेषकों धरैं स्थावरनाम कर्म की उत्तरोत्तर प्रकृत्ति के उदय होतें जीव वनस्पति कायिक हो हैं। तेदो प्रकार, एक प्रत्येक शरीर एक सामान्य कहिये साधारण शरीर। तहां एक प्रति नियम रूप होइ एक जीव प्रति एक शरीर होइ सो प्रत्येक शरीर है। प्रत्येक है शरीर जिनका ते प्रत्येक शरीर जानने। बहुरि समान का भाव सो सामान्य, सामान्य है शरीर जिन का ते सामान्य शरीर जीव हैं। भावार्थ-बहुत जीव का एकहो जीव शरीर साधारण समान रूप होइ सो साधारण शरीर कहिये। ऐसा शरीर जिन कै होइ ते साधारण शरीर जानने, तहां प्रत्येक शरीर के होय भेद, एक प्रतिष्टित एक अप्रतिष्टित। यहां गाथा विपैं इति शब्द प्रकारवाची जानना। तहां प्रत्येक वनस्पति के शरीर बादर निगोदजीवनिकरि आश्रित संयुक्त होय ते प्रतिष्टित जानने। जे बादर निगोद के आश्रय रहित होइ ते अप्रतिष्ठित जानने।"

यहां पर वनस्पति के मूल में दो भेद बतलाये हैं। एक प्रत्येक और दूसरा साधारण। जिसमें अनंत जीवों का एक ही शरीर हो और उन सबका एक साथ ही जन्म मरण भी होता रहे उसको साधारण वनस्पति जीव कहते हैं और यह साधारण वनस्पति कंद, मूल, आर्द्रक, पर्व, स्कंध, बीजादि से भिन्न उलन फुलन, काई, सिवाल अथवा वर्षा काल में जमीन से छत्राकार गोलाकार फूमां निकलती है तथा अमरवेलादि वनस्पति सो सब साधारण वनस्पति हैं। इसके अतिरिक्त कंद मूलादि उपर्युक्त सर्व ही वनस्पति प्रत्येक वनस्पति होती है।

प्रत्येक के भी दो भेद हैं,—एक सप्रतिष्ठित या प्रतिष्ठित प्रत्येक और दूसरा अप्रतिष्ठित प्रत्येक। जिसके आश्रित बादर निगोद जीव रहते हों वे प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति जीव हैं और इनकी सर्वोत्कृष्ट अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण हो है। जिसके आश्रित निगोद जीव न रहते हों, वह अप्रतिष्ठित प्रत्येक जीव है जिसकी जघन्य अवगाहना भी घनांगुल के असंख्यात वें भाग से पल्य के संख्यातवें गुणी होती है और सर्वोत्कृष्ट अवगाहना एक हजार योजन से कुछ अधिक होती है। यह बात पहले भी बतलाई जा चुकी है। इन प्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति जीवों में इतना ही अंतर है कि जिनका जीव निगोदिया जीवों से प्रतिष्ठित अर्थात् आश्रित होता है वे प्रतिष्ठित प्रत्येक और जिनका जीव उनसे आश्रित न हो वे अप्रतिष्ठित

प्रत्येक वनस्पति होते हैं। इतनी विशेषता जरूर जानना कि अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कायिक जीव का शरीर जबतक कोमल या कचा रहता है, तोड़ने पर उस अंगका समभाग हो जाता है तब तक उस अंगका आश्रय सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कायिक जीव करते हैं। जिससे उस अंगको उस समय सप्रतिष्ठित भी कहा जा सकता है क्योंकि उस समय उस अंग के साथ साथ प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति जीवों का संबध है परन्तु वह थोड़े काल का है। जब उस अंग में कठोरता आजाती है अर्थात् उस अंगकी पक अवस्था हो जाती है तब वे आश्रित जीव निकल जाते हैं अर्थात् नष्ट हो जाते हैं तब वह अंग भी अप्रतिष्ठित हो जाता है। सारांश यह है कि—अप्रतिष्ठित प्रत्येक कायिक के शरीर में निगोदी जीव नहीं रहते उस के शरीर में केवल उस कायिक जीव का ही सर्वत्र प्रदेश रहता है। यह आगम सिद्ध बात है।

जिस प्रकार वनस्पति कायिक जीवों के प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित भेद हैं उसी प्रकार अन्य जीवों में भी है, सोही दिखाते हैं,—

पुढवी आदि चउण्हं केवलि आहार देवणिरयंगा।
अपदिट्ठिदा णिगोदहिं पदिट्ठिदंगा हवे सेसा॥

(गोमट्टसार गा० २००)

हिन्दी टीका—पृथ्वी आदि चार प्रकार जीव पृथ्वी अप, तेज, वायु इनिका शरीर, बहुरि केवलीका शरीर, बहुरि आहारक शरीर, बहुरि देवनिका शरीर, बहुरि नारकीनिका शरीर ये सर्व निगोद

शरीरनिकरि अप्रतिष्ठित हैं। बहुरि अवशेष रहे जे जीव तिनि के शरीर प्रतिष्ठित जानने। इनि विषैं निगोद शरीर पाइये है। तातैं अवशेष सर्व निगोद शरीरनि करि प्रतिष्ठित हैं, आश्रित हैं। अर्थात् सप्रतिष्ठित प्रत्येक बनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय पंचेंद्रिय तिर्यंच अर पूर्वैं कहे तिनि विना अवशेष मनुष्य इन सब-निकैं शरीर विषैं निगोद पाइये है।

खेद है कि इतनी सीधी बात भी उक्त शास्त्री बाबाजी सरीखे नहीं समझ पाये या समझ कर भी अपना दुराग्रह नहीं छोड़ते। पंच स्थावरों में ४ स्थावरों में तो निगोदी जीव होते नहीं। पांचवें स्थावर के दो भेद जिनमें सप्रतिष्ठित तो वह, जिसके आश्रित निगोदी जीव रहते हों और अप्रतिष्ठित वे हैं जिस सप्रतिष्ठित के अंग में से निगोदी जीव जाते रहे हों, उस सप्रतिष्ठित का वह अंग। उस अंग में केवल मूल शरीरी जीव का ही प्रदेश रहता है। जब वह अप्रतिष्ठित अंग मूल शरीरी जीव से पृथक् होगया तो वह निर्जीव है और उसकी योनिभूतता नष्ट कर देने पर वह योनि भूत रूप सचित्त के त्यागी के भी भक्ष्य हो जाता है। सप्रति-ष्ठित अंग, अप्रतिष्ठित अंग कैसे हो जाता है सो 'सुक्कं पक्कं तत्तं' आदि गाथा द्वारा पहले अच्छी तरह स्पष्ट किया जा चुका है।

अब पंच स्थावरों के शरीर की आकृति का निरूपण किया जाता है,—

मसुरंबुबिंदुसूई कलावधयसरिणहो हवे देहो।
पुढवी आदि चउण्हं तस्स तस काया अरोयविहा ॥

(गोमट्टसार २०१ गाथा)

संस्कृत टीका:—पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकजीवानां देह: शरीरं यथाक्रमं मसूरांबुबिंदुसूचीकलापध्वजसन्निभो भवति पृथ्वीकायिकशरीरं मसूरेण वृत्तचणकेन सदृशं तद्वद्गोलकाकारमित्यर्थ:। अप्कायिकशरीरं जलविन्दुना सदृशं। इदमपि गोलकाकारमित्यर्थ:। तेजस्कायिकशरीरं सूचीकलापेन सदृशं तादृगूर्ध्वबहुमुख्यमित्यर्थ:। वात कायिक शरीरं ध्वजेन सदृशं तादृगायतचतुरस्त्र मित्यर्थ: । यद्यपि तत्तच्छरीराणि उक्त संस्थानानि तथापि तदवगाहनं घनांगुलासंख्येयभागमात्र मेवेति दृष्टिगोचरं नास्ति इन्द्रिय गोचरं नास्ति। इन्द्रियगोचरत्वे प्रतिपद्यमानं पृथिव्यादिकं तु बहु शरीरसमूह इति ग्राह्या: तरूणां वनस्पतिकायिकानां त्रसानां इन्द्रियादीनां च काया: शरीराणि अनेकविधा: अनियतसंस्थाना यथा संभवं घनांगुलासंख्येभागादि संख्यातघनांगुलावसानावगाहनविकल्पविशिष्टा: संतीति ज्ञातव्या: ॥२०१॥

हिन्दी-टीका—पृथ्वी कायिक जीवनि के शरीर मसूर अन्न समान गोल आकार धरैं हैं। बहुरि अप् कायिक जीवनिका शरीर जलकी बूंद के समान गोल आकार धरै है। बहुरि अग्नि कायिक जीवनिका शरीर सूईनि के समूह के समान लंबा अरु ऊर्द्ध्व विषैं चौड़ा बहुमुख रूप आकार धरैं है।

बहुरि वातकायिक जीवनिका शरीर ध्वजा समान लंबा चोकोर आकार धरै है। ऐसैं इनि के आकार कहा तथापि इनि की अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भाग मात्र है तातैं जुदे जुदेदीसैं नांही। जो पृथ्वी आदि इन्द्रिय गोचर है सो घने शरीरनिका समुदाय है ऐसा जानना बहुरि तरू जे वनस्पति कायिक अर द्वींद्रियादिक त्रस कायिक इनि के शरीर अनेक प्रकार आकार धरैं हैं। नियम नाहीं। ते घनांगुल का असंख्यातवां भाग तें लगाय संख्यात घनांगुल पर्यंत अवगाहना धरैं, ऐसेजानना।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि पृथ्वी, अप् तेज और वायु इन चार स्थावरों की अवगाहना घनांगुल के संख्यातवें भाग मात्र है इसी कारण वे जुदे जुदे दिखते नहीं किन्तु वेइन्द्रिय आदि पंचेन्द्रिय पर्यंत त्रस जीवों के शरीर की तथा बनस्पति कायिक जीवों के शरीर की अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भाग से लगाकर संख्यात घनांगुल प्रमाण है। इस कारण उनकी अवगाहना अलग अलग दीखने में आती है और उन सब की आकृति भी भिन्न भिन्न प्रकार की है। तथा प्रतिष्ठित प्रत्येक की अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भाग होने के कारण उनकी अवगाहना अलग दीखने में नहीं आती। उनकी अवगाहना अप्रतिष्ठित प्रत्येक को अवगाहना के साथ मिल जाती है। तोभी उसकी पहचान सम भंगादि चिह्नों से इसलिए होजाती है कि वह अप्रतिष्ठित प्रत्येक के आश्रित है जब तक अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति का अंग कोमल

या कच्चा रहता है तब तक ही वह सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति उसके आश्रित रहती है, यह उसकी पहचान है।

यदि सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति अप्रतिष्ठित प्रत्येक के आश्रित न रहती तो उसकी पहचान भी पृथ्वी जल, तेज वायु कायिक की तरह नहीं हो सकती थी क्योंकि उसकी अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भाग मात्र है जो इन्द्रिय के अगोचर है। इन्द्रियगोचर अप्रतिष्ठित प्रत्येक के आश्रित रहने से ही सम भंगादिक लक्षणों से हो जाती है अन्यथा नहीं, जो पहले स्पष्टतया लिखा जा चुका है।

घनांगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर संख्यात गुण प्रमाण के घनांगुल प्रमाण रूप अवगाहना बतलाई है। घनांगुल का प्रमाण क्या है सो भी जान लेना आवश्यक समझ लिखा जाता है—

पल्लछिदिमेत्तपल्ला गाराणोराहदीय अंगुल सूई।
तव्वग्गघरणा कमसो पदर घणांगुल समक्खादो ॥ ८ ॥

टीका—पल्यच्छेदमात्र पल्यानामन्योन्यहत्या अंगुलं सूची।
तद्वर्गघनौ क्रमशः प्रतरघनांगुलौ समाख्यातौ ॥ ८ ॥

"भावार्थ—पल्य के जेते अर्धच्छेद होंहि तिनमे पल्य मांडितिनको परस्परगुरों सूच्यांगुल हो है। जैसे पल्य का प्रमाण सोलह ताके अर्धच्छेद चारि सो चारि जायगा सोला सोलामांडि इनको परस्पर

गुणे ६५५३६ होंहि सोही सूच्यंगुल का प्रमाण जानना। बहुरि सूच्यगुल का जो वर्गसो प्रतरांगुल जानना। जैसेपण्णट्ठी का वर्ग बादाल ४२९४९६७२९६ होय सो प्रतरांगुल है। बहुरि सूच्यंगुल का घनघनांगुल जानना। जैसे पण्णट्ठीका घन है सो पण्णट्ठीकरि गुणा हुआ जो बादाल तिसको पण्णट्ठीकर गुणणा सो घनांगुल जानना तिसका प्रमाण २८१४७४९७६७०६६५६ इन का असंख्यातवांभाग सो घनांगुलका असंख्यातवां भाग जानना यह प्रमाण पल्य की कल्पना कर के बताया है पल्य का प्रमाण बहुत बड़ा है पल्य के रोमनि की संख्या "४१३४५२६३०३०८२०३१७७७४९५१२१९२००००००००००००००००००००।" पैंतालीस अंक प्रमाण है इन के अर्द्ध छेद जितने होय उतने पैंतालीस अंक प्रमाण पल्य मांडि परस्पर गुणे जो प्रमाण आवे उसको सूच्यंगुल कहिये तथा सूच्यंगुल को परस्पर गुणे जो प्रमाण आवे उसको प्रतरांगुल कहिये तथा सूच्यंगुल की राशी तीन जायगा मांडि परस्पर गुणे जो प्रमाण आवे सो प्रमाण घनांगुल का प्रमाण जानना इस घनांगुल के असंख्यातवें भाग सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पती की अवगाहना है। तथा इस घनांगुल से संख्यात गुणी अप्रतिष्ठित प्रत्येक की उत्कृष्ट अवगाहना है जो एक हजार योजन अर्थात् चार कोस (आठ माइल) से भी कुछ अधिक होती है। इस अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति की अवगाहना से बड़ी अवगाहना पंचेन्द्रिय जीवों के अतिरिक्त किसी भी जीव की नहीं होती। यह ऊपर बतलाये आगम प्रमाणों से स्पष्ट है तो भी उसे छिपाकर घनांगुल के

असंख्यात भाग ही बतलाना या तो अज्ञानता है या छल है जो जनता को भ्रम में डालने के लिए एक षड्यंत्र भी कहा जा सकता है।

यदि अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति सजीव होता तो रामचन्द्रजी जैसे महापुरुष और सीता जैसी महासती दंडकवन में तथा कथित गीली वनस्पति का मुनिराज को आहार कैसे देते और मुनिमहाराज कैसे लेते ? देखिये पद्मपुराण मूल।

यहां पर एक यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि जब एक वृक्षादि के समूचे शरीर में एक जीव मूल मालिक समझा जाय अन्य सप्रतिष्ठित प्रत्येकादि जीव उनके आश्रय रहते हैं—ऐसा मान लिया जाय तो उस हालत में एक कंद मूलादिक के स्कंध में अप्रतिष्ठित प्रत्येक जीव भी संख्यातासंख्यात रहते हैं। इस प्रकार आगम में जोबताया गया है उसकी सिद्धि किसप्रकार से होसकती है—इसलिए यह मानना पड़ेगा कि एक वृक्षादि के सारे पेड़ में संख्यातासंख्यात अप्रतिष्ठित प्रत्येक जीव भी मालिक होकर रहते हैं अन्यथा एक स्कंध में संख्यातासंख्यात उन अप्रतिष्ठित प्रत्येक जीवों की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः एक सारे पेड का एक ही जीव मालिक है अर्थात् एक ही जीव का वह सारा पेड शरीर है ऐसा मानना गलत है बल्कि अनेक जीवों के शरीर समुदाय का नाम ही वह सारा पेड है ऐसा मानना ठीक है—क्योंकि आगम में, एकस्कंध में संख्यातासंख्यात अप्रतिष्ठित प्रत्येक जीव भी पाये जाते हैं, ऐसा लिखा है।

"मूलग्गपव्वबीया कंदा तह खंदबीज बीजरूहा।
समुच्छिमाय भणिया पत्तेयाणंत कायाय॥ गाथा १८६।"

टीका–मूलं बीजं येषां ते मूलबीजाः आर्द्रकहरिद्रादयः, अग्रं बीजं येषां ते अग्रबीजाः आर्यकोदीच्यादयः, पर्वबीजं येषां ते पर्वबीजाः इक्षुवेत्रादयः कंदो बीजं येषां ते कंदबीजा पिंडालसूरणादयः, स्कंधो बीजं येषां ते स्कंधबीजाः सल्लकीकंटकीपलाशादयः,बीजात् रोहंतीति बीजरुहाः शालिगोधूमादयः, संमूर्छे समंतात् प्रसृतपुद्गलस्कंधेभवाः सम्मूर्छिमाः, मूलादिनियतबीजनिरपेक्षाः ते च ये प्रत्येकशरीरा जीवाः परमागमे भणितास्ते अनंतकायाश्च अनंतानंतनिगोदजीवानां कायाः शरीराणि एष्विति अनंतकायाः प्रतिष्ठितप्रत्येका इत्यर्थः चशब्दादसाधारणशरीरमाश्रितं प्रत्येकशरीरं येषां ते प्रतिष्ठितप्रत्येक शरीराः तैरनाश्रितशरीरा अप्रतिष्ठितप्रत्येकशरीराः स्युः एवं प्रत्येकजीवानां निगोदशरीरैः प्रतिष्ठिताप्रतिष्ठितभेदेन द्विविधत्वं उदाहरणदर्शनपूर्वकं व्याख्यातं। प्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पतिजीवशरीरस्य सर्वोत्कृष्टावगाहनमपि घनांगुलासंख्येयभागमात्रमेवेति पूर्वोक्तार्द्रकादिस्कंधेषु एकैकस्मिंस्तानि असंख्यातानि संति। यद्येतावत्क्षेत्रस्य एकं प्रतिष्ठितप्रत्येकशरीरं फ १ स्यात् तदैतावत्क्षेत्रस्य कति प्रतिष्ठितप्रत्येकशरीराणि स्युरितित्रिराशिकलब्धानि एकैकार्द्रकादिस्कंधसंभवीनि प्रतिष्ठितप्रत्येकशरीराणि भवंति। अप्रतिष्ठितप्रत्येक वनस्पतिजीवशरीराणि यथा संभवं असंख्यातानि संख्यातानि वा भवंति। यावंति प्रत्येकशरीराणि तावंत एव प्रत्येकवनस्पतिः जीवाः तत्र प्रतिशरीरमेकैकस्यजीवस्य प्रतिज्ञानात्।

टीका:—जिनकी मूल जो जड़ सोही वीज होई ते आदा हलद आदि मूलवीज जानने वहुरि जिन का अग्र जो अग्र भाग सोही वीजहोइ ते आर्यक आदि अग्रवीज जानने। वहुरिजिन का पर्व जो पेली सोही वीज होइ ते सांठा आदि पर्व वीज जानने। वहुरि कन्द है वीज जिनका ते पिंडालु सूरण आदि कन्द वीज जानने। वहुरि स्कन्ध जो पेड सोही है वीज जिनका तेसालरि पलास आदि स्कन्ध वीज जानने। वहुरि वीज ही ते लगें ते गेहूं शालि आदि वीजरुह जानने वहुरि मूल आदि निश्चित वीज की अपेक्षातैंरहित आपै आप उपजै ते सम्मूर्च्छिम कहिये समंततैं भये पुद्गल स्कन्ध तिनिविषैं उपजैं ऐसे दो व आदिक सम्मूर्च्छिम जानने। ऐसे ये कहैते सर्व ही प्रत्येक वनस्पति हैं ते अनंत जै निगोद जीव तिन के काय कहिये शरीर जिनिविषैपाइयो ऐसे अनन्तकाया कहिये प्रतिष्ठित प्रत्येक है वहुरि चकारतैं अप्रतिष्ठित प्रत्येक हैं ऐसै प्रतिष्ठित कहिये साधारण शरीरनिकरि आश्रित है प्रत्येक शरीर जिनिका ते प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर हैं। वहुरि तिनिकरि आश्रित नाहि है प्रत्येक शरीर जिनिका ते अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर हैं ऐसे ये मूल वीज आदि सम्मूर्छिम पर्यंत सर्व दोय दोय अवस्था लिये जानने। वहुरिकोउ जानेगा कि इनि विषैं सम्मूर्च्छिम कैतौ सम्मूर्च्छिम जन्म होगा अन्य के गर्भादिक होगा सो नाहि है ते सर्वेही प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीरी जीव सम्मूर्च्छिम ही है। वहुरि प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित प्रत्येक की सर्वोत्कृष्ट अवगाहना घनांगुल के असंख्यात भाग मात्र ही है। तातैं पूर्वोक्त आदाको आदि देकरि एक

एक स्कन्ध विषैं असंख्यात प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर पाइये हैं कैसैं ! घनांगुल को दोयवार पल्य का असंख्यातवां भाग अर नववार संख्यातवां भाग दिये जो प्रमाण हो इतितने क्षेत्र विषैं जो एक प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर होइ तो संख्यात घनांगुल प्रमाण आदा मूला आदि स्कन्धविषैं के ते पाइये। ऐसे त्रसादिक कोयें लब्धराशि दोयवार पल्य का असंख्यातवां भाग दशवार संख्यात मांडि परस्पर गुणैं जितना प्रमाण होइ तितने एक एक आदा आदि स्कन्ध विषैं प्रतिष्ठित प्रत्येक पाइये हैं बहुरि एक स्कन्ध विषैं, अप्रतिष्ठित प्रत्येक बनस्पति जीवनिकै शरीर यथा संभव असंख्यात भी होंइ वा संख्यात भी होंइ बहुरि जैते प्रत्येक शरीर हैं जितने ही वहां प्रत्येक बनस्पति जीव जानने तातें तहां एक एक शरीर प्रति एक एक ही जीव होने का नियम है।

उपरोक्त कथन ने यह स्पष्ट हो जाता है कि एक पेड़ में भी अनेक संख्यातासंख्यात अप्रतिष्ठित प्रत्येक जीवों के शरीर का समुदाय है अतः पूरा पेड एक जीव का शरीर मानना गलत है- दूसरे जीव रहित होकर फिर उसमें जीव उत्पन्न होनें की शक्ति रहे उसी को बीज कहते हैं- अतः उपरोक्त "मूलग्गपव्वबीजा" ज्यो ज्यो बीज रूप बनस्पति है उन सब में अलग २ जीव मानना पड़ेगा—क्योंकि उसमें पहले जीव था फिर वह जीव रहित होकर फिर उसमें वही या दूसरा जीव उत्पन्न होता है यह सिद्धांत है— जब वही जीव फिर उसमें आसकता है तो उसमें अलग जीव था तब ही तो उसमें फिर वही जीव आ सकता है—अन्यथा यह सिद्धांत

गलत ठहर जायगा—इसलिए एक वृक्ष में अनेक जीवों की मालि-
कियत सत्ता मानना आगमानुकूल है।

उत्तर—

तत्त्व को समझने के लिए शास्त्र ज्ञान तो परमावश्यक है ही, परन्तु उसके साथ शास्त्र की बातों को व्यवहार में समन्वय करने की भी आवश्यकता है। शास्त्र में जो बात लिखी है वह सब सर्वज्ञ भाषित है, अन्यथा नहीं हो सकती। परन्तु उस बातको समन्वित और घटित भी करना चाहिये। यदि वह चीज अपनी बुद्धि से समन्वित न हो सकती हो तो अन्य विशेषज्ञों से करनी चाहिये। बुद्धि का निरंतर प्रयोग करने पर वह चीज समन्वित हो जाती है परन्तु कब, जबकि उस बुद्धि में एक तो निष्पक्षता हो तथा दूसरी बात यह भी है कि उसमें तत्त्व विवेचन करने की असाधारण और विशिष्ट सामर्थ्य भी हो, यदि शंकाकार अपनी शंका पर ही न अड़ा रहे और वीतराग कथा रूप विवेचन को काम में लेवे तो कठिन से कठिन समस्या भी सुलझ सकती है। जैन धर्म को धारण करने का महत्व ही यह है कि तत्त्व निर्णय में सापेक्ष किन्तु वीतराग बुद्धि हो और वही निरंतर काम में आवे। कोई बात समझ में नहीं आवे तो हमें अन्य विशेष बुद्धिधारियों के पास जाकर उसको समझ लेना चाहिए। केवल हठवश अपनी बात पर अड़े रहना और दूसरों की न सुनना दृढग्राहिता या ना-समझी ही कही जायगी। तत्त्व चर्चा में जिज्ञासु भाव रहना ही चाहिए। श्र० भूरामलजी शास्त्री विद्वान् हैं अन्य लोग भी विचारक

विद्वान् हो सकते हैं तथा हैं भी। इस शंका का समाधान भी बहुत सुलभ है।

वैसे बिना समझे तो यह शंका ठीक सी मालूम पड़ती है– किन्तु वस्तुतः विचार कर देखा जाय तो सर्वथा निर्मूल है। आगम में कन्द मूलादि एक स्कंध में भी जो अप्रतिष्ठित प्रत्येक संख्यातासंख्यात जीवों की सत्ता मानी है सो भी सामान्य कथन है–क्योंकि जो बीज से उत्पन्न होते हैं उनकी कलम भी लगती है या उखाड़कर दूसरी जगह भी लगाये जा सकते हैं जैसे आम अनार, नीबू, नारंगी आदि तथा बाजरा, जुवार चावल इत्यादि। अनाज या मसाला बीज से भी उत्पन्न होते हैं–तथा उखाड़कर इनका पौधा भी लगाया जाता है अथवा बाजरा आदि कितने ही पदार्थ बिना बीज के स्वयमेव ऐसे ही उत्पन्न होते देखे गये हैं– इसलिये उपरोक्त जो बीज बतलाये हैं वह सामान्य कथन है– दूसरी तरह से भी उत्पन्न हो सकते हैं–इसलिये वनस्पति में वृक्षादिक के अंगादि भंग होने पर फिर भी वह लग जाता है–उसी वनस्पति के अंग को दूसरे जीव अपना योनि स्थान बनाकर उत्पन्न हो जाते हैं–अतः जो जो बीज होते हैं वह २ सब अलग २ जीवों के शरीर होते ही हैं ऐसा नियम नहीं है। होते भी हैं और नहीं भी होते हैं–अर्थात् पानी मिट्टी इत्यादिका सम्बन्ध बनाकर एक जीव के निर्जीव अंग को अपना योनि स्थान बना लेता है। जिस प्रकार नवीन पुद्गलों को वनस्पति रूप परिणमन कराकर उसमें दर्भादिक वनस्पति जीव अपना शरीर बना लेता है उसी प्रकार उस पुरातन परिण-

मन किये हुए वनस्पति रूप पुद्गल परमाणु वृक्षादि के डाली रूप स्कंध को वृक्षादि से अलग होने पर भी मिट्टी आदि का संयोग मिल जाने पर उस अंग को दूसरा जीव अपना शरीर बना लेता है इसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं आती। ऐसा प्रत्यक्ष भी देखने में आता है।

इसी तरह जब गुलाब आदि फूलों की डाली काटकर लगाई जाती हैं तब पहले उस डाली के पत्ते वगैरह सब झड़ जाते हैं— फिर कुछ दिनों के बाद उस डाली में जब जीव उत्पन्न हो जाते हैं तब उसी डाली में फिर नवीन पत्ते निकलने लगते हैं, यह प्रत्यक्ष है।

अब रही एक स्कंध में अप्रतिष्ठित प्रत्येक जीवों के संख्याता संख्यात होने की बात-सो यह भी सामान्य कथन है सब स्कंधों में ऐसा होही, ऐसा कोई सिद्धांत नहीं है क्योंकि वे सब आश्रित जीव हैं इसलिए उनमें तृणकादिक की परिपक्व अवस्था में आश्रित जीव नहीं रहते हैं उनमें सिर्फ मूल शरीर धारी एक जीव ही रह जाता है अथवा उस तृण में भी यदि फल लगे हुए हो तो उनमें जितने बीज हैं उतने ही भिन्न २ जीव हैं। वे सब बीजों के जीव अप्रतिष्ठित प्रत्येक ही हैं। बीजों की अपेक्षा अथवा सप्रतिष्ठित प्रत्येक के आश्रित निगोद निगल जाने के बाद भी वह प्रत्येक किसी स्कंध से नहीं हट जाते तब तक उनकी भी अप्रतिष्ठित प्रत्येक अवस्था रहती है। इस अपेक्षा से भी एक स्कंध में संख्याता संख्यात अप्रतिष्ठित प्रत्येक जीव पाये जाते हैं, ऐसा कथन किया

गया है। ये सब मूल शरीरी जीव के आश्रित ही हैं। जिस प्रकार माता के उदर में बालक भिन्न जीव है वह माता के शरीर के आश्रित ही है। माता के शरीर का मालिक नहीं। उसी प्रकार फलों के आश्रित बीजों में अलग जीव है परन्तु वे जीव फलवाले वृक्ष के मालिक रूप नहीं, किन्तु संतान रूप हैं। वे सब बीजों के जीव भी जबतक फल वृक्ष में लगा रहता है तब तक ही वे जीवित रहते हैं। फल टूट जाने के बाद वे बीजों के जीव नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए ही आम नारियल आदि के फलों के टूट जाने के बाद फलों में भी बीज पड़े पड़े उग जाता है। बीज निर्जीव होकर योनिभूत रहजाता है इसलिए उसमें वही जीव या दूसरा जीव आकर उत्पन्न हो जाता है। यदि वे बीज फल टूट जाने के बाद भी निर्जीव नहीं होते तो वे उग नहीं सकते थे और न उनकी बीज संज्ञाही हो सकती है क्योंकि बीज संज्ञा निर्जीव योनिभूत बीजों की ही होती है, सजीव बीजों की नहीं, ऐसा नियम नहीं। इसलिये मानना होगा कि जबतक फल वृक्ष के लगा हुआ है तब तक उस फल का बीज भी सजीव रहता है और जब वह फल वृक्ष से अलग हो जाता है तब वह फल और उसमें रहने वाला बीज भी निर्जीव हो जाता है। फलों में बीजों की संख्या भी संख्यातासंख्यात हो जाती है क्योंकि एक के बाद दो से ही संख्यात का भेद शुद्ध हो जाता है तथा उत्कृष्ट संख्यात के ऊपर एक भी हो तो वह उसकी संज्ञा असंख्यात हो जाती है इसलिए वह वृक्षादिक के बीज अति सूक्ष्म होते हैं और संख्या में भी पर्याप्त होते हैं। वृक्षों में बड़का वृक्ष बहुत बड़ा होता है और इसके फल भी बहुत लगते हैं। अंत

के द्वीप में नो एक स्कंध में बीजों की अपेक्षा इनके संख्याता-संख्यात जीवों की विधि भी आसानी से मिल सकत है। इसके अतिरिक्त जो आदा आदि के स्कंध में अप्रतिष्ठित प्रत्येक जीवों की संख्यातासंख्यात बतलाई है वह भी प्रतिष्ठित प्रत्येक जीव निगोद जीवों से रहित होने पर बन जाती है। अर्थात् निगोद जीवों से प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति जीव अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति जीव के शरीर का आश्रय लेते हैं उस समय उनकी प्रतिष्ठित सत्ता है किन्तु जब अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति जीव का शरीर पक्व अवस्था के सन्मुख होता है तब वह निगोद जीव जो प्रत्येक के साथ प्रतिष्ठित होकर आया था, वह जब नष्ट हो जाता है तब उन प्रतिष्ठित प्रत्येक जीवों की भी अप्रतिष्ठित अवस्था हो जाती है और वह प्रत्येक जीव कुछ काल तक अप्रतिष्ठित अवस्था हो जाती है और वह प्रत्येक जीव कुछ काल तक अप्रतिष्ठित प्रत्येक जीव के मूल शरीर स्कंध के साथ रह जाता है। इस अपेक्षा से भी एक स्कंध में अप्रतिष्ठित प्रत्येक जीवों की संख्या संख्याता संख्यात बन जाती है। जब वह अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति जीव का शरीर परिपक्व अवस्था में परिणत हो जाता है तब वह प्रत्येक जीव भी जो निगोद जीवों को साथ लेकर अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर का आश्रय लिया था वह भी नष्ट हो जाता है तब वह स्कन्ध मूल शरीरी जीवका ही रह जाता है फिर उस स्कंध में दूसरे जीवों का संबंध नहीं रहता।

सारांश यह है कि आगम में प्रत्येक वनस्पति जीव के दो

भेद किये हैं। एक प्रतिष्ठित प्रत्येक जिसकी सर्वोत्कृष्ट अवगाहना घनांगुलके असंख्यातवें भाग मात्र ही बतलाई है तथा दूसरा अप्रतिष्ठित प्रत्येक जिसकी जघन्य अवगाहना भी घनांगुल के असंख्यातवें भाग से पल्य के संख्यात वें भाग गुणी है और उत्कृष्ट अवगाहना एक हजार योजन से कुछ अधिक है जो सब स्पष्ट रूप से ऊपर बतलाया जा चुका है। जिन प्रत्येक जीवों की अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भाग मात्र ही है वह प्रत्येक जीव भी जन्म के प्रथम समय से लेकर अन्तमुहूर्त पर्यन्त अप्रतिष्ठित प्रत्येक ही रहते हैं। अन्तमुहूर्त के बाद जब इनका निगोद जीव आश्रय करते हैं तब यह अप्रतिष्ठित प्रत्येक भी सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहलाता है, ऐसा आगम में कहा है।

"प्रथमतायां शरीरग्रहणकाले प्रथमसमये अन्तमुहूर्त्तमात्रे वा प्रत्येका अप्रतिष्ठित प्रत्येका एव पश्चान्निगोद जीवैर्यदा आश्रियन्ते तदा प्रतिष्ठिता भवन्ती तात्पर्यम्" अर्थ ऊपर दिया गया है। यह प्रकरण गो० सा० की १८५ की गाथा की टीका में है। जब तक प्रत्येक जीव प्रथम अवस्था में अन्तमुहूर्त काल तक निगोद जीवों को आश्रय नहीं देता है तब तक उसकी अप्रतिष्ठित प्रत्येक अवस्था है और ये प्रत्येक जीव जो मूल शरीरी अप्रतिष्ठित प्रत्येक हैं उनके स्कंध का आश्रय करते ही हैं इस अपेक्षा भी एक स्कंध में अप्रतिष्ठित प्रत्येक जीव संख्यातासंख्यात पाये जाते हैं, ऐसा कहा गया है। अथवा यह प्रत्येक जीव अन्तमुहूर्त बाद जब निगोदजीवों से प्रतिष्ठित होती है तब इनकी फिर फिर सप्रतिष्ठित

संज्ञा हो जाती है किन्तु फिर कुछ काल के बाद निगोदिया जीव जब इनका पिंड छोड़ देता है तब यह प्रत्येक अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहलाने योग्य हो जाता है और जब तक यह प्रत्येक उस स्कंध में रहता है तब तक उस स्कंध में इनकी अपेक्षा अप्रतिष्ठित प्रत्येक जीव फिर अप्रतिष्ठित प्रत्येक हो जाता है ऐसा आगम से सिद्ध है।

इस उपर्युक्त कथन से सुस्पष्ट हो जाता है कि एक स्कंध में संख्यातासंख्यात अप्रतिष्ठित प्रत्येक जीव भी रह सकते हैं जिनके रहते हुये भी समूचे वृक्ष में एक जीव के उस वृक्ष के मालिक रूप से रहने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि अन्य सब आश्रित हैं, जो वृक्षादिक के साथ प्रतिसमय यथायोग्य स्थानों पर आते जाते रहते हैं और कमती बढ़ती भी होते रहते है। इसीलिए सामान्य रूप से संख्यातासंख्यात संख्या बतलाई किन्तु मूल वृक्षादिका शरीरी जीव जब तक वृक्षादि स्थित रहते हैं तब तक नष्ट नहीं होता और आश्रित जीव उसमें आते जाते रहते हैं। हां, इतनी बात अवश्य है कि मूल शरीरी जीव के अंगादिक भंग भी होते रहते हैं तथा नये भी पैदा होते रहते हैं, जो वस्तु स्वभाव है। अतः एक समूचे पेड़ में एक जीव की सत्ता मानने में किसी प्रकार की बाधा नहीं उपस्थित होती।

कुछ विद्वान् यह भी समझे हुये हैं कि जिस प्रकार वनस्पति के बीजों में योनि भूतता पाई जाती है उस प्रकार अन्य पृथिवी आदि चार स्थावरों में योनि भूतता नहीं है इसलिये वे छने हुये जल को

योनिभूत नहीं मानते क्योंकि जिस प्रकार जीव बीज में निकलकर फिर उसी बीज में वह या दूसरा जीव आजाता है उसी प्रकार पृथ्वी अप् तेज वायु रूप शरीर को छोड़कर फिर उसी शरीर में वेही पृथ्वी अप् तेज वायु जीव आकर उत्पन्न नहीं होते परन्तु यह समझना गलत है। उनके लिए इतना ही कहदेना पर्याप्त होगा कि पृथ्वी अप्तेज वायुकायिक जीवों की जो उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है उस स्थिति के बाद फिर वह शरीर तो चार स्थावरों का योनिभूत न मानने वालों के हिसाब से सदैव निर्जीव ही रहना चाहिये जो अनादिकाल से समुद्र तथा पृथ्विी रूप में विद्यमान है। अथवा जो वातवलयों में अनादि कालीन वात है वह भी निर्जीव ही समझी जायगी क्योंकि इन सब जीवों की स्थिति सर्वोत्कृष्ट कोमल पृथ्वी कायिक की बारह हजार वर्ष प्रमाण है तथा कठिन पृथ्वी कायिक की बाईस हजार वर्ष प्रमाण है, तेज कायिक की तीन दिन प्रमाण, जल कायिक की सात हजार वर्ष प्रमाण है, वात कायिक की तीन हजार वर्ष प्रमाण और वनस्पति कायिक की दश हजार वर्ष प्रमाण हैं। सारांश यह है कि इन चारों में बीज रूप योनि भूतता न मानी जायगी तो इन चारों की सर्वोत्कृष्ट आयु शेष हो जाने के बाद भी इन चारों के शरीर का स्कंध तो ज्यों का त्यों बना रहता है फिर ऐसी दशा में समस्त समुद्र पृथ्वी पहाड़ बात वलय और बडवानल सब ही को निर्जीव मानना पड़ेगा अथवा इन पृथ्वी अप्तेज वायु के चार चार भेद किये हैं वेभी इनकी योनि भूतता न मानने से नहीं बनेंगे क्योंकि इनके चार चार भेदों

में पहिला भेद योनिभूत अचित्त है जिसका स्पष्टीकरण पहले किया जा चुका है।

पांचों ही स्थावरों के चार चार भेदों में पहिला भेद अचित्त होने पर भी योनिभूत सचित्त मानागया है। जिस प्रकार निगोद शरीर की उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण बतलाई है और उस शरीर में समय समय प्रति अनंतानंत जीव एक साथ ही मरते और एक साथ ही उपजते हैं उसी प्रकार पृथ्वी अप्तेज वायु कायिकों का शरीर स्कंध ज्यों का त्यों बना रहता है उन पृथ्वी अप् तेज वायु कायिक जीवों की अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भाग मात्र होने से उनका शरीर जीव रहित होने पर ज्योंका त्यों न भी बना रहे तो भी अनेक जीवोंका शरीर मिला हुआ स्कंध ज्यों का त्यों बना रहता है और उसमें नये जीव आते जाते रहते हैं जैसे कि छने हुए जलमें छन्ने की रगड़ से जल-कायिक जीव निकल जाते हैं और उनका शरीर भी छन्ने की रगड़ से नष्ट भ्रष्ट हो जाता है तो भी जल रूप परमाणुओं का समुदाय पूर्ववत् ही बना रहता है और उसमें अन्तर्मुहूर्त बाद जल जीव आकर उसको अपना शरीर बना लेता है। इसी प्रकार सब में घटित कर लेना चाहिये।

ऐसा ही श्री गोम्मटसार की १८२ वीं गाथा में कहा गया है:—

"एवमेकनिगोदशरीरे प्रतिसमयं अनंतानंतजीवास्तावत्स हैव म्रियन्ते सहैवोत्पद्यन्ते यावदसंख्यातसागरोपमकोटीकोटि-

मात्रा असंख्याततलोकमात्रसमयप्रमिता उत्कृष्टनिगोदकायस्थितिः परिसमाप्यते।"

अथवा—पृथिवी अप् तेज वायु विशिष्ट जो नाम कर्म की स्थावर प्रकृति भेद रूप उत्तरोत्तर प्रकृति ताके उदयकरि जीवनि के तहांही पृथ्वी अप् तेज वायु रूप परिणमे जे पुद्गल स्कंध तिनि विषैं अपने २ पृथ्वी आदि रूप वर्णादि चतुष्क संयुक्त शरीर नियम करि होते हैं। ऐसे होतै पृथ्वी कायिक, अप् कायिक, तेजः कायिक, वातकायिक जीव कहलाता है। सो ही गोम्मटसार की १८२ गाथा की टीका में कहा है:—

"पृथिव्यप्तेजो वायुविशिष्टनामकर्मोत्तरोत्तरप्रकृत्युदये न तत्रैव पृथिव्यप्तेजोवायुपुद्गलस्कंधेषु तत्ताद्वर्णचतुष्कयु तस्तेषां जीवानां देहः नियमेन भवेत् तथा सति पृथ्वीकायिकाः अप्कायिकाः तेजस्कायिकाः वायुकायिकाश्च भवंति" अर्थात् पृथ्वी अप् तेज वायु रूप परिणये वे पुद्गल स्कंध जब तक विद्यमान रहते हैं तव तक उनमें अपने २ अपने उदयानुसार पृथ्वी आदि शरीर धारण करते रहते हैं। ऐसा नहीं है कि पृथिवी अप् तेज वायु रूप परिणये जे पूर्व स्कंध निर्जीव होने के वाद फिर उस स्कंध में नये जीव ही आकर उत्पन्न न होते हों? जब तक वह स्कंध बना रहता है तव तक वह स्कंध योनि भूत कहलाता है और उसमें नये नये जीव आते जाते जन्मते मरते रहते हैं। इसलिए जिनकी यह समझ है कि पृथ्वी जल तेज वायु इन चार स्थावरों में योनिभूत पूर्व स्कंध नहीं होते हैं और नये पुद्गलों को ही अपने शरीर

योग्य परिणमन कराकर उसको ही अपना शरीर वनाया जाता यह समझ गलत और अशास्त्रीय है।

अंत में विद्वज्जनों से प्रार्थना है कि पक्षपात दुरा-ग्रह व कषाय को छोड़कर इस विषय पर विचार करें। वर्तमान समय कलिकाल के प्रभाव से तात्त्विक बुद्धि से पदार्थ का निर्णय न हो, दुराग्रह तथा पक्षपातादिसे अन्यथारूप होने लग गया है जो हम पतन के चिह्न हैं। सचित्त अचित्त के सबंध में जो मैंने लिखा वह सब शास्त्रीय प्रमाणों से ही लिखा है और वस्तु का विवेक करने में पूरी सावधानी वरती है तोभी यदि कहीं त्रुटि रहगई तो विद्वज्जन मुझे सूचित करें। मैं उनका आभार मानता हूं औचित्य होने पर अपनी भूल स्वीकार कर आगे संशोधन करूं।

जैनं जयतु शासनम्।

विक्रम संवत् २०११
विजय दशमी
ता० २७-१०-१९५४

ब्रह्मचारी चांदमल चूड़ीवाल
नागौर (मारवाड)

योग्य परिणमन कराकर उसको ही अपना शरीर बनाया
यह समझ गलत और अशास्त्रीय है ।

अंत में विद्वज्जनों से प्रार्थना है कि पक्षपात दुरा-
कषाय को छोड़कर इस विषय पर विचार करें । वर्तमान
कलिकाल के प्रभाव से तात्विक बुद्धि से पदार्थ का निर्णय
दुराग्रह तथा पक्षपातादिसे अन्यथारूप होने लग गया है
पतन के चिह्न हैं । सचित्त अचित्त के संबंध में जो मैंने
यह सब शास्त्रीय प्रमाणों से ही लिखा है और वस्तु का
करने में पूरी सावधानी बरती है तोभी यदि कहीं त्रुटि
तो विद्वज्जन मुझे सूचित करें । मैं उनका आभार मान
औचित्य होने पर अपनी भूल स्वीकार कर आगे संशोध

जैनं जयतु शासनम् ।

विक्रम संवत् २०११
विजय दशमी
ता० २७-१०-१९५४

ब्रह्मचारी चांदमल चू
नागौर (मारवा